हिन्दी साहित्य मंदिर ग्रन्थमाला का पच्चीसवाँ ग्रन्थ।

भारत के हिन्दू सम्राट

लेखक—

चन्द्रराज भण्डारी "विशारद"

प्रस्तावना लेखक

रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा

प्रकाशक—



प्रथम संस्करण } अक्टूबर १९२४ राजसंस्करण २॥) { मूल्य १॥) सजिल्द २)

प्रकाशक—
जीतमल लुणिया,
हिन्दी साहित्य मंदिर, बनारस ।

मुद्रक—गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
बनारस सटी । १२९९—२५

समर्पण

श्रीमान् डा० अम्बालालजी शर्मा,

वैद्यशास्त्री की

पुनीत सेवा में—

उनके अखंड प्रेम, महती कृपा एवं सरल स्नेह
के उपलक्ष्य में लेखक की यह कृति भक्त
की पुष्पांजली की तरह मित्र के
उपहार की तरह,

प्रेमपूर्वक

सादर समर्पित

है

चन्द्रराज भंडारी

समर्पण

श्रीमान् डा० [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भाषा का
जा रहा है
ीन प्रका-
श पुस्तकें
नहीं होती
कमी नहीं
हैं। यह

यासों की
वश्य कता
सम्राटों
ता है।
ास लीन
हैं खेद
श डालने
नहीं पाये
क ग्रन्थों

प्रकाशक—
जीतमल लुणिया,
हिन्दी साहित्य मंदिर, बनारस।

मुद्रक—गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
बनारस सटी। १२९९—२४

समर्पण

श्रीमान् डा० अम्बालालजी शर्मा,

वैद्यशास्त्री की

पुनीत सेवा में—

उनके अखंड प्रेम, महती कृपा एवं सरल स्नेह
के उपलक्ष्य में लेखक की यह कृति भक्त
की पुष्पांजली की तरह मित्र के
उपहार की तरह,

प्रेमपूर्वक

सादर समर्पित

है

चन्द्रराज भंडारी

प्रस्तावना

यह बड़े हर्ष की बात है कि, आजकल हिन्दी भाषा का साहित्य दिन प्रतिदिन अच्छी उन्नति करता जा रहा है प्रतिवर्ष भिन्न २ विषयों की सैकड़ों पुस्तकें नवीन प्रकाशित होती जा रही हैं। यद्यपि उनमें से प्रायः अधिकांश पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनसे मातृभाषा के साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं होती तथापि इस नवीन प्रकाशन में अच्छी पुस्तकों की भी कमी नहीं है। कितने ही ग्रन्थ तो बहुत ही उच्च कोटि के निकलते हैं। यह सन्तोष की बात है।

जिस प्रकार चारित्र्य-संगठन के लिए उत्तम उपन्यासों की एवं रंगभूमि के लिए उत्तम नाटकों की साहित्य में आवश्यकता है उसी प्रकार देश और जाति के उत्थान के लिए हिन्दू सम्राटों और महापुरुषों के चरित्र ग्रन्थों की भी बड़ी आवश्यकता है।

जिस प्रकार मुसलमान सम्राटों के समका इतिहास लीन सम्बन्धी अनेक फ़ारसी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं खेद है कि उस प्रकार हिन्दू सम्राटों के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ संस्कृत तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं पाये जाते। बल्कि इन भाषाओं में सम सामयिक ऐतिहासिक ग्रन्थों

का अभाव भी कहें तो अनुचित न होगा। ऐतिहासिक युग में भारतवर्ष के अन्दर बहुत से राजा महाराजा और महापुरुष हुए, पर उनका क्रमबद्ध इतिहास न मिलने से, कइयों के तो नाम भी विस्मृति सागर में विलीन हो गये।

ईरान के बादशाह दारा और यूनान के सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण कर उसके कुछ अंश पर अधिकार कर लिया परन्तु उनका नाम निशान तक हमारे किसी इतिहास में नहीं मिलता। यह तो बहुत पुरानी बात रही पर महमूद गजनवी की चढाइयों और सोमनाथ पर के प्रसिद्ध आक्रमण का हमारे यहाँ नामोल्लेख तक नहीं मिलता। हमारे हिन्दू सम्राटों का इतिहास भी इसी प्रकार अन्धकार के गर्भ में विलीन है। उसके लिए पुरानी संगृहीत सामग्री कुछ भी नहीं है। प्राचीन शोध के प्रभाव ने इन विषय पर कुछ २ प्रकाश अवश्य डाला है पर वह भी सन्तोषजनक नहीं है। यह निश्चय है कि समय २ पर अनेक ग्रन्थ ऐतिहासिक विवेचन पर लिखे गये थें, पर दैव दुर्वियोग से वे सुरक्षित न रह सके। जो कुछ इस समय उपलब्ध होते हैं उनसे तथा बौद्ध, जैन, यूनानी, चीनी, तिब्बती एवं लंका के विद्वानों के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों से और प्राचीन शिलालेखों से इस विषय में कुछ २ सहारा मिल सकता है।

मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री कौटिल्य का लिखा हुआ अर्थशास्त्र उपलब्ध न होता तो हमें उस समय की देश स्थिति, समाज स्थिति, राज्य प्रबन्ध, सैनिक प्रबन्ध, कृषि विभाग, सिचाई, सड़कें, मर्दुमशुमारी, वाणिज्य, औषधालय, न्याय और खुफ़िया विभाग आदि विषयों

का कुछ भी ज्ञान प्राप्त न होता। मेगास्थनीज का लिखा हुआ भारतवर्ष का वर्णन भी इस विषय में बड़ा सहायक होता, पर दुर्दैव ने उसे भी नष्ट कर दिया, केवल उसमें से उद्धृत किये हुए अवतरण मात्र अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से मिलते हैं। अशोक की धर्म लिपियाँ और अन्य शिलालेख यदि प्राप्त न होते अथवा पढ़े न जाते तो अशोक का वृत्तान्त भी हमारे लिए तो अन्धकार में ही था। अशोक के पश्चात् न मालूम कितने सम्राट् ऐसे हुए होंगे कि यदि उनका इतिहास भी सुरक्षित होता तो कितनी ही नई बातों का और उस समय की परिस्थिति का हमें बहुत कुछ पता लग जाता। यदि फ़ाहियान का लिखा हुआ यात्रा का विवरण चीन में सुरक्षित न होता तो हमें गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) के समय की देशस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने का साधन ही न रहता। यदि महाकवि बाणभट्ट बैसवंशी महाराजा हर्षवर्द्धन का चरित्र अङ्कित न करता, और हुएनसंग के समान विद्वान् चीनी यात्री अपने पन्द्रह वर्ष इस देश में व्यतीत न करता तो हर्ष के दिग्विजय, प्रताप, धर्म संबंधी विचार, लोगों के आचरण तथा भारतवर्ष के तत्कालीन भूगोल का भी पता न चलता। इस प्रकार हमारे यहां के शिलालेखों, ऐतिहासिक ग्रन्थों, तथा विदेशियों के लिखे हुए ग्रन्थों से हमारे यहां के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ने लगा है और भविष्य में ज्यों २ खोज होती जायगी त्यों २ अधिकाधिक पड़ता जायगा।

अनेक बड़े २ राज्यों के उत्थान और पतन कैसे हुए धार्मिक विचारों में क्या २ परिवर्तन हुआ और उनसे देश की तत्कालीन

स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा इसका भी कुछ वृत्तान्त ज्ञात होने लगा है। परन्तु ये सब बातें बहुधा अंग्रेजी भाषा में लिखी गई हैं हिन्दी साहित्य प्रेमियों को उससे बहुत कम अशंका रसास्वादन करने को मिला है। देश और जाति के उत्थान के लिये ऐसे अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की साहित्य में आवश्यकता होती है। श्री चन्द्रराजजी भण्डारी ने बड़े परिश्रम से हिन्दू सम्राटों के सम्बन्ध की एक पुस्तक लिखी है। उन्होंने अपनी सारी पुस्तक मुझे सुनाई। इस पुस्तक को सुनकर मुझे विशेष प्रसन्नता इस बात की हुई कि इस प्रकार के ग्रन्थों की हमारे साहित्य में बड़ी आवश्यकता है। इस शैली के ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में यदि प्रकाशित हों तो उनसे इतिहास के एक अपूर्ण अंग की कुछ पूर्ति हो सकती है। चारित्र्य गठन, देशानुराग और जाति तथा देशोन्नति के लिए ऐसी पुस्तकों की वृद्धि तथा उनके घर २ प्रचार की कितनी आवश्यकता है यह प्रत्येक स्वदेशप्रेमी भली प्रकार समझ सकता है। मैं इस पुस्तक को कुछ त्रुटियां होते हुए भी बड़े महत्व की समझता हूँ और चूंकि इतिहास विषय में इन युवा लेखक की यह पहली कृति है, इसलिए इसका और भी अधिक आदर करता हूँ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है। इसमें देश की तत्कालीन स्थिति, राज्यों के और धर्मों के उत्थान और पतन, प्रजा की उन्नति तथा अवनति होने के कारण-जो कि दैशिक शास्त्र, समाज शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र के आधार पर बतलाये गये हैं—मनन करने योग्य हैं। एक गुण और इस ग्रन्थ में पाया जाता है वह यह कि परम्परागत दन्त कथाओं पर अन्ध-

विश्वास न कर इतिहास का वास्तविक और प्रमाणिक रूप बतलाने का यत्न किया गया है। जैसे कि—मौर्य्य चन्द्रगुप्त का शूद्र होना, पुष्यमित्र के द्वारा बौद्धों का हत्याकाण्ड, कुमारगुप्त पर पुष्यमित्रीय जाति का आक्रमण, सम्राट् पृथ्वीराज का दिल्ली के तोमर राजा अनङ्गपाल के यहां गोद जाना, तथा संयोगिता के लिए कन्नौज के प्रतापी गहरवारवंशी राजा जयचन्द्र से लड़ना आदि भ्रममूलक बातों से-जिनको कि कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है और जिनके भ्रम में कई बड़े २ लेखक भी पड़ जाते हैं-उक्त लेखक बच गये हैं। ये सब विषय इस पुस्तक में बहुत छानबीन के साथ लिखे गये हैं। आशा है हिन्दी संसार इसका उचित आदर करेगा।

अजमेर
ता० ३०-१-२४ } **गौरीशंकर हीराचन्द ओझा**



भूमिका ।

सुधारणा शास्त्र की योजना के निमित्त भौतिक शास्त्रादि जिन भिन्न भिन्न शास्त्रों की आवश्यकता होती है इतिहास भी उनमें से एक प्रधान शास्त्र है । बिना भूतकाल का प्रकाश वर्तमानकाल पर पड़े हम उन वास्तविक तत्वों के जानने में असमर्थ रहते हैं जिनके द्वारा भूतकालिक जातियों की उत्क्रान्ति या अपक्रान्ति होती थीं और इस कारण बिना इतिहास ज्ञान के सुधारणा-तत्व का एक अंश बिलकुल खाली रह जाता है । इतिहास सुधारणा-तत्व की इसी कमी को पूरी करता है । वह बिजली के ऑक्स की तरह भूतकाल का प्रतिबिम्ब वर्त्तमान काल पर डालता है वह भूतकालिक जातियों के उत्थान और पतन का हूबहू चित्र हमारे सम्मुख रख देता है जिसका अध्ययन कर हम लोग वर्त्तमान-समाज की उन्नति और प्रगति के तत्वों का ज्ञान सहज ही में हासिल कर सकते हैं ।

मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ में जब कि मनुष्य जाति को अपनी कर्त्तव्यशक्ति का पूरा ज्ञान न था और समाज में भौतिक शास्त्र की उन्नति न हुई थी उस समय साहित्य में इतिहास को स्थान न था । उस समय की जातियाँ इतिहास के महत्व को पहचानती भी न थी क्योंकि उस समय मनुष्य द्वारा किये हुए छोटे से छोटे कार्य्य का कर्त्ता भी ईश्वर माना जाता था । मनुष्य उस समय केवल एक साधक के रूप में माना जाता था ।

पर, ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होने लगा ज्यों ज्यों समाज की

भौतिकशास्त्र में प्रगति होने लगी ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी कर्तृत्व शक्ति को पहचानने लगा और ज्यों ज्यों यह अनुभव में आने लगा कि समाज उन्हीं कर्तृत्व शक्ति से युक्त मनुष्यों का एक समुदाय है त्यों त्यों इतिहास शास्त्र के जन्म के साधन बनने लगे। जब मानव जाति के अन्तर्गत विचारों की क्रान्ति होने लगी-जब समाज में राज सत्ता और अधिकारी सत्ता के प्रचण्ड तूफ़ान उठने लगे तब समाज को इन सब बातों का ज्ञान कराने वाले और उनकी भविष्यद्गति को नियमन करनेवाले एक शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

इस आवश्यकता की पूर्ति करने के निमित्त समाज के नेताओं ने इतिहास-शास्त्र नामक शास्त्र की नींव डाली। इस शास्त्र का महत्व शीघ्र ही लोगों के ध्यान में आ गया, उन्होंने जान लिया कि यह शास्त्र भूतकाल की अतीत स्मृति पर और भविष्य की अदृष्ट सृष्टि पर ज्ञान की किरणें डालकर उन्हें प्रकाशित करता रहता है।

वास्तव में देखा जाय तो इतिहास से मनुष्य जाति का बहुत कुछ उपकार सम्पन्न होता है। इतिहास मनुष्य जाति के छिपे हुए रहस्यों को प्रकट करने का एक अमोघ साधन है। सुप्रसिद्ध लेखक फ्रेडरिक हैरिसन् अपने "meaning of history" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

"उन्नति के तत्वों का ज्ञान उन तत्वों के पूर्व परिणाम पर अवलम्बित है, और उन पूर्व परिणामों के जानने का एक मात्र साधन इतिहास है।"

हिगेल्स लिखते हैं किः—"इतिहास शिक्षक की तरह जगत् में होने वाली अशुभ घटनाओं को संगृहीत कर उनके द्वारा समाज को बतलाता है कि ये घटनाएं प्रकृति का अमुक नियम उल्लंघन करने से हुई हैं। यदि अब समाज को इस प्रकार की घटनाओं से बचाना है तो प्रकृति के अमुक नियम का पूर्णतः पालन करना चाहिए। वह बायस्कोप की तरह अतीत काल की सम्पूर्ण शुभाशुभ घटनाओं का चित्र आखों के सम्मुख खींच देता है। केवल स्थूल रूप से ही नहीं प्रत्युत बहुत सूक्ष्म रूप से इतिहास

तत्कालीन समाज की रहन सहन पद्धति, आचार विचार, धार्मिक कल्पना, राजकीय संस्था आदि सभी बातों का चित्र अन्तर्दृष्टि के सम्मुख उपस्थित कर देता है।"

जिन परिस्थितियों के फेर में पड़कर जातियाँ गुलाम हो जाती हैं, समाज नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, सिंहासन उलट जाते हैं, और साम्राज्य बिखर जाते हैं उन सब का सूक्ष्म विवेचन करना इतिहास शास्त्र का काम है केवल सन् और तिथियों के बतला देने से अथवा अरेबियननाइट्स की तरह प्राचीन किस्सों को सुना देने ही से उसका काम पूरा नहीं हो जाता। वास्तविक इतिहास वही है जिसके अन्तर्गत समाज शास्त्र, मानस शास्त्र और राजनितिशास्त्र का निचोड़ आ गया हो।

चन्द्रगुप्त एक सम्राट था, उसका विवाह अमुक सन् में हुआ था। अथवा अशोक बौद्ध-धर्म का उपासक था उसका जन्म मौर्य्यवंश में हुआ था आदि, बातें कह देने ही से इतिहास शास्त्र का काम पूरा नहीं हो जायगा। प्रत्युत इतिहास उन साधनों का, उन परिस्थियों का, और उन तत्वों को पूर्ण विवेचन करेगा जिनके द्वारा चन्द्रगुप्त के समान साधारण व्यक्ति एक इतने बड़े साम्राज्य का सूत्रपात करने में समर्थ हुआ। इसी सिलसिले में वह मानस शास्त्र के उन सब तत्वों का विवेचन करेगा जो उस समय के लोगों के दिलों में काम कर रहे थे। इसके पश्चात् वह उन बातों का विवेचन करेगा जिनके द्वारा चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य की नींव इतनी मज़बूत करदी कि वह भविष्य में भी कई पीढ़ियों तक न हिली। इस सिलसिले में उसे उस समय की शासन-पद्धति राजनीति, धर्मनीति आदि सभी बातों का विवेचन करना पड़ेगा, तभी जाकर उसका काम पूरा होगा।

इस प्रकार संक्षिप्त रूप से इतिहास हमें कई जातियों के उत्थान और पतन के दृश्य और उनके मनोवैज्ञानिक कारण बतलाता है। पर भूतकालिक बातों से वर्त्तमान और भविष्य के संगठन में क्या सहायता मिल सकती है यह प्रश्न विचारणीय है।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भूतकालिक घटनाओं के प्रकाश बिना वर्त्तमानकाल प्रकाशित नहीं हो सकता। राज संस्था, धर्म संस्था आदि जगत् की संस्थाएं भूतकालिक घटनाओं से रहित यदि हमें दृष्टिगोचर हों तो उन संस्थाओं की स्थिति का अन्तर हमारी दृष्टि से बिलकुल अज्ञेय रहेगा और कुछ समय के पश्चात् जब कि वर्त्तमानकाल भी भूतकाल होजायगा तब उसकी भी स्मृति नष्ट हो जायगी और मानवीय बुद्धि ज्यों की त्यों कोरी रह जायगी। इसलिए उपरोक्त सब घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाने के लिए इतिहास शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष को ही लीजिए। इसकी स्थिति आज ही के समान पहले भी थी या नहीं, यदि नहीं थी तो कैसी थी? और उसमें किस प्रकार परिवर्त्तन होते होते यह स्थिति प्राप्त हुई। वह परिवर्त्तन किन कारणों से हुआ और किन तरीकों से पुनः वही स्थिति लाई जा सकती है आदि बातों का ज्ञान बिना इतिहास शास्त्र का अध्ययन किये नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त बिना इतिहास ज्ञान के यह भी नहीं जाना जा सकता कि जगत् की राजसंस्थाएं, धर्म संस्थाएं, किस प्रकार उत्पन्न हुईं किस प्रकार इस रूप में आईं और किस प्रकार भविष्य में इनका रूप होगा। तथा सम्पत्ति के ज़ोर से प्रबल होने वाली राजसत्ताएँ और अभिजन सत्ताएं गरीबों के पैसे से पलकर दिन पर दिन अधिक प्रबल होती जायँगी अथवा कृषक लोगों की सतत चोटों से जर्जरित हो अन्त में अतीत के गर्भ में लीन हो जायँगी।

इन सब बातों के बतलाने का काम इतिहास शास्त्र का है। इसी कारण समाज के जीवन निर्माण में अथवा देश का भविष्य सुधारने में इतिहास शास्त्र की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

उपरोक्त सब दृष्टियों को सम्मुख रख कर यदि इतिहास शास्त्र पर कोई पुस्तक लिखी जाय तो वह बहुत लाभप्रद हो सकती है। हमें सन्तोष है कि हिन्दी साहित्य में भी आजकल इस प्रकार की कुछ पुस्तकें

प्रकाशित हो रही हैं। भारत के हिन्दू सम्राटों पर भी कुछ छोटी छोटी फुटकर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं पर वे बहुत ही कम संख्या में दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय की अभी बहुत पुस्तकें हिन्दी संसार में वांछनीय हैं।

भारतवर्ष के ज्ञात इतिहास में यदि अभिमान करने योग्य कोई स्थान पाया जाता है तो वह बौद्धकाल का दृश्य ही है। हमारी राय में बौद्धकाल के समान स्वर्णयुग भारतवर्ष ने अपने ज्ञात इतिहास में कभी नहीं देखा और भविष्य में भी कुछ शताब्दियों तक देखने की आशा कम से कम हमारे छोटे से मस्तिष्क में तो नहीं है। उत्कट कर्म-शीलता, अभिनन्दनीय त्याग, प्रशंसनीय उदारता और विनीत सभ्यता के जो दृश्य उस काल में देखने को मिलते हैं, वे उसके पश्चात् के इति-हास में दुर्भाग्य के न मालूम किस दारुण चक्र से अथवा देवता के न मालूम किस भीषण श्राप से एक दम अन्तर्लीन हो गये हैं। जिस उदार सभ्यता के सम्मुख इतिहास प्रसिद्ध सिकन्दर नत मस्तक हो गया था, जिस अनुकरणीय उदारता से मुग्ध होकर सभ्य यूनान का सेनापति सेल्यूकस अपनी प्राणाधिक कन्या को भेंट कर गया था, वह सभ्यता और वह उदारता भारतवर्ष के इतिहास में फिर कभी देखने में आई या नहीं सो नहीं कह सकते। उस समय भारतवर्ष में विजय के साथ उदा-रता विचरण करती थी।

मौर्य्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य से अधिक प्रिय काल इतिहास में हमें देखने को नहीं मिलता और वही इस समय हमारे अध्ययन की सबसे अधिक और प्रिय सामग्री है। पर दैव दुर्वियोग से उस समय का भी पूरा इतिहास हमें देखने को नहीं मिलता। यदि हमारे देश में विदेशी पर्यटकों का आगमन न होता तो आज यह थोड़ी सी सामग्री भी हमारे लिए दुर्बोध हो जाती।

मालूम होता है कि भारतवर्ष के इतिहास पर देवता का ही कुछ कोप था। यही कारण है कि यहाँ के इतिहास पर मेगास्थनीज़ ने जो कुछ

प्रकाश डाला उसे भी वह हड़प गया। यदि मेगास्थनीज़ का पूरा विवरण हमारे आगे होता तो हमारी कितनी ही उलझनें सुलझ गई होतीं।

पर अब हमारे सौभाग्य से या पुरातत्व वेत्ताओं के प्रयत्न से पुराना इतिहास प्रकाश में आ रहा है। कुछ वर्ष पूर्व मैसूर के शाम शास्त्री ने कौटिल्य के अर्थ शास्त्र की खोज कर उसे प्रकाशित किया है। जब से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है तभी से ऐतिहासिक जगत् में एक प्रकार की हल चल सी मच गई है। मौर्य्य साम्राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली कई नवीन नवीन बातें प्रकाश में आगई हैं।

हिन्दी संसार की आवश्यकता को देखकर इसी सब नवीन और पुरातन सामग्री के आधार पर इस छोटी सी पुस्तक की रचना की जारही है। इसमें बहुत ही संक्षिप्त रूप से भारत के हिन्दू सम्राटों का विवेचन किया गया है। इस पुस्तक को ठीक इतिहास ग्रन्थ कहना तो दुस्साध्य है। इतिहास के ढङ्ग से यदि यह पुस्तक लिखा जाती तो शायद एक हजार पृष्ठ भी इसके लिए पर्य्याप्त न होते। पर न तो हममें इतनी योग्यता ही है और न इतना अवकाश ही। इस कारण यह पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर न हो सकी फिर भी जैसा कुछ होसका हिन्दी संसार की सेवा में भेंट है।

एक बात और कहना है वह यह कि इसमें कई बातें ऐसी हैं जो बड़े बड़े इतिहासज्ञों के लिखें हुए वर्णन से मतभेद रखती हैं। इन बातों की सूचना हमें पूजनीय पण्डित गौरीशङ्करजी ओझा ने दी हैं। उनका कथन है कि इन बातों में बहुत से इतिहास लेखकों ने गलती खाई है। पण्डित जी का कथन अधिक प्रमाणयुक्त और मान्य होने के कारण हमने पुरानी परिपाटी की परवाह न करते हुए वे बातें नवीन खोज के अनुसार दी हैं। आशा है इतिहासज्ञ इन बातों को ध्यान के साथ पढ़ कर अपनी राय क़ायम करेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में मुझे प्रधान सहायता तो पूज्य पण्डित जी से ही मिली है अतएव उनका तो यह लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है पर ही,

इनके अतिरिक्त निम्नाङ्कित ग्रन्थों से भी मुझे बहुत कुछ सहायता मिली है अतएव उनके विद्वान् लेखकों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ—

(१) कौटिल्य अर्थशास्त्र (अनुवादक पं० प्राणनाथ विद्यालङ्कार)।

(२) भारतीय सभ्यता का इतिहास (रमेशचन्द्र दत्त)।

(३) भारतवर्ष का इतिहास (लाला लाजपतराय)।

(४) अशोक अनुशासन (बङ्गला) (श्रीचारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय और ललित मोहन कर)।

(५) समुद्रगुप्त (जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा से प्रकाशित)।

(६-७-८-९) मेगास्थनीज, फ़ाहियान, सुंगयुन और हुएन सङ्ग के यात्रा विवरण।

(१०) सोलंकियों का इतिहास (रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा)।

(११) सम्राट् हर्षवर्द्धन (बाबू सम्पूर्णानन्द)।

(१२) श्रीहर्ष (जयदेव ब्रदर्स)।

(१३) करुणा (राखालदास)।

(१४) राणा संग्रामसिंह (हरविलास शारदा)।

(१५) जगद्गुरु भारतवर्ष (श्रीसुखसम्पतिराय भण्डारी)।

(१६) कालिदास (महावीरप्रसाद द्विवेदी)।

(१७) सुधारणा और प्रगति (अनुवादक सूरजमल जैन)।

(१८) दैशिकशास्त्र (बद्रीसाह टुलधरिया)।

(१९) वैश्यकाण्ड (बंगला) नगेन्द्रनाथ वसु)।

सरस्वती माधुरी और नागरीप्रचारणी के कुछ लेख और टिप्पणियाँ।

शान्ति मन्दिर
भानपुरा
देवशयनी १९८०

निवेदक—
चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'

हिन्दी साहित्य को शुभसन्देश ! संसार की भाषाओं में अपूर्व !!

भगवान् महावीर

का वृहत् जीवन चरित्र छप गया। जिस ग्रन्थ का हिन्दी साहित्य में बड़ा अभाव था वह पूरा होगया।

यदि आप—आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का प्रमाणिक इतिहास पढ़ना चाहते हैं।

यदि आप—उस समय के कुल मतमतान्तरों का वर्णन, जैन, बौद्ध, आजीविक आदि मतों का तुलनात्मक निवेचन पढ़कर यह जानना चाहते हैं कि बौद्ध और आजीविक सम्प्रदाय भारत से क्यों नष्ट होगये और जैन सम्प्रदाय क्यों अब तक स्थिरता पूर्वक चल रहा है।

यदि आप—भगवान् महावीर के जीवन का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहते हैं, उन पर आये हुए उपसर्गों का दार्शनिक अर्थ जानना चाहते हैं एवं पौराणिक दृष्टि से उनके पूर्व सत्ताइस भावों का वर्णन आदि बातें पढ़ना चाहते हैं और

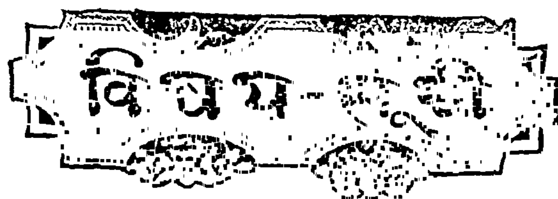
यदि आप—जैन तत्वज्ञान के प्रधान २ तत्वों जैसे अहिंसा, स्याद्वाद, आचारशास्त्र सात तत्व छहद्रव्य आदि का खुलासा वर्णन पढ़ना चाहते हैं तो आज ही इसकी एक प्रति मंगवालीजिए।

यह ग्रन्थ, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक पौराणिक और दार्शनिक ऐसे चार खण्डों में विभक्त है।

न्याय विशारद न्यायाचार्य्य मुनि न्यायविजय जी इस पर लम्बी सम्मति देते हुए लिखते हैं "इसके लिखने में लेखक ने अनेकानेक ग्रन्थों आधार पर गवेषणा पूर्ण दृष्टि से जो काम लिया है वह इस पुस्तक की प्रशंसनीय विशेषता है"

ऐसे सर्वांगपूर्ण ५०० पृष्ठ के सजिल्द और सचित्र ग्रन्थ का मूल्य ४॥) है।

पता—हिन्दी साहित्य मन्दिर बनारस।



पृष्ठ

सम्राट् चन्द्रगुप्त

सम्राट् बिन्दुसार

सम्राट् अशोक

सम्राट् द्वितीय पुलकेशी

चौहान साम्राज्य

सम्राट् पृथ्वीराज

पृष्ठ

महाराणा संग्रामसिंह



भारत के हिन्दू सम्राट

भारत के साम्राज्य में, जिनसे हुआ विकास है।
उन हिन्दू सम्राट् का अत्युत्तम इतिहास है॥
(कवि पुष्कर)

भारत के हिन्दू सम्राट्

(१)

भूमण्डल में सबसे सुन्दर, देश-शिरोमणि भारतवर्ष।
स्वर्ण अक्षरों में है अंकित, जिसका गौरवमय उत्कर्ष॥
जिसका वैभव भूतकाल का, सचमुच में है अकथ अपार।
स्मरण मात्र से ही हो जाता, रग रग में शोणित सञ्चार॥

(२)

प्रजा-नीति के सच्चे पालक, हुए यहीं हिन्दू सम्राट।
शासन किया धर्म-सेवा हित, कला-कुशलता को उद्घाट॥
दुष्ट-दोषियों को देते थे, समझ बूझ करके ही दण्ड।
निरपराधको नहीं ठूँसते, कारागृह में हो उद्दण्ड॥

(३)

जिनके दान-मान की अब भी, होती चर्चा चारों ओर।
भयसे जिनके दबे हुए थे, व्यभिचारी-कटुकारी-चोर॥
चन्द्रगुप्त की विजय-प्रतिष्ठा, राज्य प्रबन्धक अद्भुत ज्ञान।
तत्कालीन व्यवस्था का है, परदेशी करते गुण-गान॥

(४)

धर्म-घोषणायें अशोक की, जीव-दया सिद्धान्तिक मूल।
मत-प्रचार की उत्तम शैली, कभी नहीं सकते हम भूल॥
वीर समुद्रगुप्त की गरिमा, राष्ट्ररक्षिणी पूरी शान्ति।
और दूसरे चन्द्रगुप्त की, साहित्योन्नति में उत्क्रान्ति॥

(५)

शिक्षा-कर न्यायादिक निष्ठा, हर्षवर्द्धन का उच्च प्रताप।
बाहुवीरता पृथ्वीपति की, सुनते ही उठता उर काँप॥
नहीं ढूँढ़ने से मिलते हैं, बाहर उदाहरण दो चार।
इसी भूमि पर नर-सिंहों का, होता है प्रायः अवतार॥

जगन्नारायण देव शर्मा (कविपुष्कर)

सम्राट् चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त के समय का भारत



ह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि, चन्द्रगुप्त से पहले के भारतवर्ष का इतिहास इस समय भी बहुत कुछ अन्धकार में है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों के सतत् परिश्रम से एवम् उनके पर्य्यवेक्षण से उस पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता जा रहा है। तथापि अभी तक उस काल का इतिहास बहुत ही संशयप्रद अवस्था में है।

फिर भी जहां तक खोज हुई है, उससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के पहले भारतवर्ष में एक छत्री साम्राज्य न था। उस समय का भारतवर्ष अनेक छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था। और ये छोटे छोटे राजा प्रायः आपस में ही लड़ा करते थे। आपस में एक दूसरे की मदद करने की भावनाएँ बहुत कम रह गई थीं। समाज में दैवी सम्पद का ह्रास और आसुरी सम्पद

का आधिक्य होने लग गया था। जन समाज व्यक्तिगत स्वार्थों के आगे जातिगत स्वार्थों की उपेक्षा करने लग गया था। और यही कारण था कि, जिससे मकदूनिया का बादशाह सिकन्दर पंजाब के राजा पोरस को हराने में समर्थ हुआ। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य्य होगा कि, उस समय तक्षशिला प्रभृति के राजाओं ने पोरस को पराजित करने के लिये सिकन्दर की सहायता की थी। कहने का तात्पर्य्य यह है कि, चन्द्रगुप्त के पहले के भारतवर्ष का राजनैतिक इतिहास अधिक सन्तोषप्रद नहीं है।

अब उस समय की धार्मिक अवस्था को लीजिये। चन्द्रगुप्त के समय में भारतवर्ष के अन्दर बौद्ध और जैन धर्म का अधिक प्रचार था* क्योंकि उन दोनों धर्मों के आचार्य्यों को—अर्थात् महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर को उदय हुए उस समय बहुत ही थोड़ा समय अर्थात् केवल दो सौ वर्ष के लगभग हुए थे। इन दोनों धर्मों का प्राबल्य तो था ही, पर इन दोनों धर्मों के अन्दर भी उस समय कुछ थोड़ी बहुत विशृंखलता उत्पन्न होने लग गई थी। क्योंकि, जब समाज के अन्दर स्वार्थ की भावनाएँ प्रबल होने लगती हैं तो धर्म में भी कुछ न कुछ विशृंखलता का आना अनिवार्य्य है। यद्यपि बहुत से स्वार्थत्यागी महात्मा उस समय भी इन दोनों धर्मों में पाये जाते थे, पर साधारण जनता के अन्दर बहुत सी धार्मिक प्रवृत्तियें नष्ट होने लग गई थीं, और उनके कारण कई स्वार्थी और पाखण्डी लोगों

---

* रायबहादुर पं० ओझा जी का मत है कि वैदिक धर्म भी उस समय खूब जोरों पर था। —लेखक।

के हाथ में भी धार्मिक सत्ता चली गई थी। इसके अतिरिक्त इन दोनों—वौद्ध और जैन—धर्मों में भी उस समय बहुत भयङ्कर संघर्षण चल रहा था। और इसी कारण एक दूसरे को परास्त करने की क्षुद्र भावनाएँ उस समय की जनता और आचार्य्यों में भयङ्कर रूप से काम कर रही थीं।

मतलब यह है कि, क्या राजनैतिक दृष्टि से, क्या सामाजिक दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से महाराज चन्द्रगुप्त के पहले के भारतवर्ष में बहुत विश्रृंखलता उपस्थित हो गई थी। और यही कारण था कि, विदेशी लोगों को उस समय के भारत पर बुरी निगाह डालने का अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन सम्राट् चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन होने के पश्चात् ही ये खराबियां क्रमशः दूर होने लगीं। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने केवल भारतवर्ष में ही नहीं वल्कि, काबुल कन्धार आदि विदेशी राज्यों में भी एक छत्री राज्य स्थापित कर भारतवर्ष के इतिहास में युगान्तर उपस्थित कर दिया। भारतवर्ष के सम्पूर्ण इतिहास में सम्राट् चन्द्रगुप्त का साम्राज्य सोने के अक्षरों में लिखने के तुल्य है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त कौन थे ?

सम्राट् चन्द्रगुप्त के जन्म, उनकी जाति और कुल के सम्वन्ध का निश्चित अनुसन्धान करना वहुत कठिन है। इस विषय में इतिहासकारों के अन्दर वहुत मतभेद पाया जाता है। आज कल प्रायः यह मत अधिक प्रचलित है कि, महानंद नाम के राजा की "मुरा" नामक नाई जाति की स्त्री से महाराज चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था। और "मुरा" शव्द से ही चन्द्रगुप्त का

वंश "मौर्य्यवंश" नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु आजकल कुछ विद्वान् इसके विरोध में कई प्रमाण देकर यह सिद्ध करने को कोशिश करते हैं कि, वास्तव में चन्द्रगुप्त शूद्र स्त्री से उत्पन्न नहीं हुए थे। इसके लिए जो प्रमाण दिये जाते हैं वे निम्नलिखित हैं:—

(१) मुद्रा राक्षस के अन्दर चन्द्रगुप्त को "वृपल" कह कर लिखा है। "वृपल" शब्द का मतलब पुराणों में उस द्विज से लिया जाता है जो वैदिक नियमों से भ्रष्ट हो गया हो। अतः प्रमाण से चन्द्रगुप्त वैदिक आचारों से भ्रष्ट ठहरते हैं। शूद्र नहीं।

(२) कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है कि, उस काल में असवर्ण विवाह नहीं होते थे। इस नियम के अनुसार मुरा नामक शूद्राणी का महानन्द की स्त्री होना सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) गिरनार पर्वत पर एक शिलालेख पाया गया है। उस शिलालेख में चन्द्रगुप्त के साले पुष्पगुप्त को वैश्य लिखा है। जैसे—

"मौर्य्यस्य राष्ट्रीये न वैश्येन पुष्प गुप्तेन कारितः"

इसी आधार से इतिहास के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने चन्द्रगुप्त को वैश्य सिद्ध करने की कोशिश की है।

(४) जैन और बौद्ध शास्त्रों में जितना भी वर्णन इस सम्बन्ध का आया है, उससे सम्राट् चन्द्रगुप्त क्षत्रिय वंशोत्तपन्न ठहरते हैं। यथा—

(१) बौद्ध साहित्य में महावंश नामक एक ग्रन्थ है।

जीवन काल में ही कुछ शाक्य विड्डूभ से पीडित होने के कारण हिमालय प्रदेश में चले गये थे। जिस स्थान पर जाकर वे लोग बसे थे, उस स्थान में मोर बहुत अधिकता से रहते थे। और इसी कारण उन लोगों ने अपनी बस्ती का नाम "मोरियानगर" रक्खा। आगे जाकर इसी नगर के नाम पर इस वंश का नाम भी "मौर्य्यवंश" पड़ गया। संसार प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक इसी वंश के वंशज थे। अतः वे कदापि शूद्र नहीं कहे जा सकते। महावंश की इसी टीका में पिप्पली वन के मौर्य्यों का भी वर्णन किया गया है।

(२) इसके अतिरिक्त "दीर्घ निकाय" नामक ग्रन्थ में वैशाली के लिच्छवियों और कपिलवस्तु के शाक्यों के साथ ही अलकधा के बुलियों, रामगाम के कोलियों, और पिप्पली वन के मौर्यों को भी क्षत्रिय संघ कहा है। पिप्पली वन के मौर्य्यों को भी भगवान् बुद्ध देव की राख मिली थी। इसलिए उनके क्षत्रिय होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। उस समय के शाक्यों, मलभों, लिच्छवियों आदि में किसी महापुरुष की राख या अस्थि लेने का बड़ा रिवाज था। इसका कारण यह नहीं था कि ये सभी लोग बुद्धानुयायी थे, बल्कि, वे बुद्ध की ही तरह अपने को भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न समझते थे। कुशीनगर में बुद्ध की राख लेने के लिए मौर्य्य लोगों ने अपना दावा पेश करते हुए कहा था कि बुद्ध भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं, अतएव हम उन की राख पाने के अधिकारी हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से चन्द्रगुप्त का शूद्र होना बिलकुल सिद्ध नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है कि यदि चन्द्रगुप्त वास्तव

में शूद्र नहीं थे तो ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान २ पर उन्हें शूद्र क्यों कहा गया ? इसका उत्तर देते हुए एक विद्वान कहते हैं कि, उस समय जैन और ब्राह्मण धर्म में एक भयङ्कर विरोध पैदा हो रहा था ! उस समय के जैन ग्रन्थों में ब्राह्मणों की और ब्राह्मण ग्रन्थों में जैनियों की खूब ही निन्दा की गई है। सत्य और असत्य के विचार को एक दम भुला कर उन्होंने झूठ सच किसी भी प्रकार अपने विरोधी की निन्दा करने में कसर नहीं रक्खी। यह बात निर्विवाद है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म अङ्गीकार कर लिया था। * सम्भव है इसी कारण सम्राट् चन्द्रगुप्त भी ब्राह्मणों के कोप भाजन हो गये हों और ब्राह्मणों ने उन्हें बद-नाम करने के लिये झूठमूठ ही यह स्वांग रचा हो।

कुछ भी हो, इनमें से एक भी मत अभी तक स्थिर नहीं हुआ है। कुछ लोग उन्हें शूद्र सिद्ध करते हैं, कुछ भ्रष्ट ब्राह्मण, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य। पर राय बहादुर पं० गौरीशंकर जी ओझा के मत में उनका क्षत्रिय होना ही अधिक प्रामाणिक है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यकाल।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय ईसवी सन् से ३२३ वर्ष पूर्व बतलाया है। मेगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में जिस (Sandracotts)

* लेखक के मत से अवश्य चन्द्रगुप्त ने सम्राट् होने के कुछ समय पश्चात् जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया था, इसके प्रमाण में लेखक श्रवण बेल गोला के शिलालेख का प्रमाण दे सकता है। पर रायबहादुर गौरीशङ्कर जी ओझा इसके खिलाफ है। उनके मतानुसार चन्द्रगुप्त अन्त तक वैदिक धर्मावलम्बी थे।

सेन्ड्रेकोट्स का वर्णन किया है, (एवं जिसने प्रख्यात् यूनानी वीर सेल्यूकस को रणाङ्गण में परास्त किया था) उसी को पाश्चात्य इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त माना है। लेकिन यह समय ईसा से पूर्व ३२३—प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थों में लिखे हुए चन्द्रगुप्त के समय से बहुत अन्तर रखता है। जैन ग्रन्थों में भद्रबाहू संहिता नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उससे पता चलता है कि, भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त समकालीन थे। क्योंकि, चन्द्रगुप्त को आये हुए सोलह स्वप्नों का उसमें उल्लेख है और जब हम भद्रबाहु के समय का अनुमान करते हैं तो वह लगभग ३७५ वर्ष ईसवी से पूर्व का ठहरता है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध जैन मुनि हेमचन्द्राचार्य ने भी चन्द्रगुप्त का समय महावीर निर्वाण संवत् १५५ का बतलाया है। अर्थात् वह भी ईस्वी सन् से ३७२ वर्ष पूर्व होता है। * मतलब यह है कि, पाश्चात्य विद्वानों ने चन्द्रगुप्त के लिये जो समय निर्द्धारित किया है उससे लगभग ५२ वर्ष का अन्तर इस समय में पड़ता है। इतना अन्तर क्यों पड़ता है? पाश्चात्य विद्वानों का आधार मेगास्थनीज़ स्वयं एक इतिहास लेखक था। उसके लिखे हुए समय में सत्य का अधिक अंश सम्भव हो सकता है। पर प्रश्न यह है कि, मेगास्थनीज़ ने जिस सेन्ड्रेकोट्स

---

* लेकिन यह प्रमाण सुदृढ़ नहीं माना जा सकता। क्योंकि हाल ही में प्रसिद्ध जर्मन जेकोबी ने कई प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि महावीर निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व नहीं हुआ था। प्रत्युत उनसे ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। यदि यह कथन ठीक है तो हेमचन्द्राचार्य्य के इस अनुमान से चन्द्रगुप्त का समय ईसा से ३२२ वर्ष पूर्व ही ठहरता है —लेखक

का वर्णन किया है क्या वही वास्तव में चन्द्रगुप्त है ? एक सुप्रसिद्ध इतिहासकार बहुत अन्वेषण के बाद यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि, जिस सेन्ड्रेकोट्स का वर्णन मेगास्थनीज ने अपनी यात्रा में किया है, वह वास्तव में चन्द्रगुप्त नहीं, प्रत्युत उसके पौत्र अशोक हैं। इस पक्ष को साबित करते हुए वे निम्नलिखित दलीलें पेश करते हैं:—

ग्रीक इतिहासकारों ने सेन्ड्रेकोट्स का जो उल्लेख किया है, वह जैन और बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित चन्द्रगुप्त के वर्णन से बिलकुल मेल नहीं खाता। चन्द्रगुप्त के जीवन की सबसे बड़ी बातें दो हैं। एक तो यह कि, उसने सारे भारतवर्ष को एक छत्री साम्राज्य के अधीन कर दिया। और दूसरी उसकी विशेषता मंत्री चाणक्य थी। ऐसे मंत्री संसार के इतिहास में बहुत ही कम पाये जाते हैं। पर आश्चर्य यह है कि ग्रीक इतिहासकारों ने इन दोनों ही बातों का विवेचन नहीं किया। न तो उन्होंने यह लिखा कि चन्द्रगुप्त ने सब छोटे २ राज्यों को अपने अधीन कर एक विशाल साम्राज्य का सूत्रपात किया। और न उनके सेन्ड्रेकोट्स के वर्णन में कहीं चाणक्य का ही नाम आया है। यदि सेन्ड्रेकोट्स ही वास्तव में चन्द्रगुप्त होता तो यह सम्भव नहीं है कि, ग्रीक इतिहासकार उसका वर्णन करते हुए इन दो महती बातों को भूल जाते।*

---

* राय बहादुर गौरीशंकर जी ओझा इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि, यूनानी लेखकों का पूरा विवरण अब बिलकुल अप्राप्य है। उसके इधर उधर के टुकड़े ही पाये जाते हैं। अतः पूरे ग्रन्थ के मिले बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि, यूनानी लेखकों ने इन घटनाओं का वर्णन नहीं किया।

(२) सिकन्दर ने फिजियास के द्वारा सुना था कि, सिन्धु नदी के उस पार चन्द्रमसी नामक राजा का राज्य है। उसके पास बीस हजार घुड़ सवार, दो लाख पैदल, दो हजार रथ और चार हजार हाथी हैं। इस कथन का राजा पोरस ने भी समर्थन किया था। साथ ही उसने यह भी कहा था कि, वह राजा संकरवर्ण में उत्पन्न है। ग्रीक इतिहासवेत्ताओं ने सिकन्दर के समकालीन इस राजा को चन्द्रगुप्त के पूर्ववर्त्ती नन्द होने का अनुमान किया है। पर जैन और बौद्ध शास्त्रों में केवल नौ ही नन्दों को वर्णन पाया जाता है। इनके अतिरिक्त किसी भी दसवें नन्द का पता इतिहास में नहीं मिलता। अतएव यह सम्भव नहीं है कि वह राजा नन्द हो। बल्कि उसको चन्द्रगुप्त स्वीकार करना ही अधिक युक्ति सङ्गत होगा।

(३) ग्रीक इतिहासकारों ने सेन्ड्रेकोट्स और सेल्यूकस का युद्ध, सेन्ड्रेकोट्स की विजय, हेलेन के साथ सेन्ड्रेकोट्स का विवाह आदि अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है। यदि वह वास्तव में चन्द्रगुप्त ही होता तो यह कभी सम्भव नहीं कि, जैन और बौद्ध ग्रन्थों में, जिनमें कि, चन्द्रगुप्त के जीवन की मामूली घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है ये घटनायें छूट जातीं। हां, इन बातों का अशोक के जीवन के साथ बहुत कुछ साम्य भी हो सकता है। गिरनार पहाड़ पर एक शिलालेख ऐसा मिला है जिसमें अशोक के साथ यवन-राज-कन्या के विवाह का उल्लेख है।

इन प्रमाणों से उपरोक्त इतिहास लेखक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि, मेगास्थनीज ने जिस सेन्ड्रेकोट्स का वर्णन

किया है वह वास्तव में चन्द्रगुप्त नहीं प्रत्युत अशोक है। वास्तव में यदि देखा जाय तो ये दलीलें बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। और सम्भव है इनके द्वारा भविष्य में इतिहास का भी कुछ काया पलट हो जाय। पर अभी तक अधिकांश पुरातत्त्व वेत्ताओं ने मुक्त कण्ठ से मेगास्थनीज़ द्वारा वर्णित सेन्ड्रेकोट्स को ही चन्द्रगुप्त माना है। और इसी आधार पर हम भी इन पुरातत्त्व वेत्ताओं के ही अनुकरण पर चन्द्रगुप्त का संक्षिप्त विवेचन कर देना उचित समझते हैं।

चन्द्रगुप्त के पूर्व भारतवर्ष में महानन्द नामक राजा का राज्य था। उसके नौ पुत्र थे। आठ उनकी सजातीय रानी सुनंदा से और एक जिसका नाम चन्द्रगुप्त था मुरा नाम की नाइन स्त्री से उत्पन्न था। * किसी कारणवश चन्द्रगुप्त नन्द का कोप भाजन होकर वहां से भाग गया। सिकन्दर ने जिस समय भारत-वर्ष पर चढ़ाई की थी उस समय वह पंजाब में था। जस्टिनस ने लिखा है कि, सिकंदर की प्रशंसा सुन कर वह सिकन्दर से मिला भी था। पर किसी कारणवश सिकन्दर उससे रुष्ट हो गया और चन्द्रगुप्त को वहां से भी भागना पड़ा। और अन्त में उसे चाणक्य नामक एक ब्राह्मण से भेंट हुई। यह ब्राह्मण बहुत कुटिल, बुद्धिमान् और राजनीतिज्ञ था। इसकी सहायता से चन्द्रगुप्त ने बहुत सी सेना इकट्ठी की। और उसके द्वारा सिकन्दर

* यह कथा प्रचलित नहीं है। प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता राय बहादुर गौरीशंकरजी ओझा का मत है कि इस कथा को मुद्राराक्षस के टीकाकार ढूंढीराज ने सन् १७१३ ई० में गढ़ा था। इसके पूर्व इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। —लेखक।

के चले जाने पर इसने उसके जीते हुए तमाम प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। और अन्त में इसी कुटिल ब्राह्मण की सहायता से उसने नंद वंश का भी नाश करके मगध प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। इस समय चन्द्रगुप्त की उम्र २५ वर्ष से अधिक न थी।

मगध विजय करने पर नंद राजा की विशाल सेना इसके हस्तगत हुई। चाणक्य की कुशाग्रबुद्धि और इस विराट् सेना के अपरिमित बल की सहायता से अब इस उत्साही समाट् ने अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। साथ ही साथ उसने सैनिक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न भी न छोड़ा। इस विराट् शक्ति की सहायता से उसने अपने साम्राज्य का विस्तार बंगाल की खाड़ी से अरब समुद्र तक कर लिया।

इधर तो भारतवर्ष में सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य के विस्तार करने में लगे हुए थे। उधर सिकन्दर के सेनापति-सीरिया के राजा—सेल्यूकस नेकटार ने सिकन्दर द्वारा अधिकृत भारतीय प्रदेशों पर पुनराधिकार प्राप्त करने के लिये खूब सजधज के साथ भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी खूब ही सजधज के साथ यूनानी सेनापति का मुकाबिला किया। और पहली मुठभेड़ में उस गर्वित यूनानी सेनाध्यक्ष को पराजित कर दिया। अन्त में सेल्यूकस एक बहुत ही अपमान पूर्ण सन्धि करने को बाध्य हुआ। उसने अपने साम्राज्य में से काबुल, कंधार, हिरात और मकरान के कुछ मूल्यवान प्रदेश चन्द्रगुप्त को अर्पण किये। इतना ही नहीं, उसने सम्राट् चन्द्रगुप्त से प्रसन्न होकर अपनी बेटी हेलेन का विवाह भी उसके साथ कर दिया। सम्राट

चन्द्रगुप्त ने भी ५०० हातियों की भेंट देकर अपने श्वसुर का सत्कार किया। इस महती विजय से सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार भारतवर्ष से बाहर भी फैल गया। और वे भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक चक्रवर्ती कहलाने के भी अधिकारी हुए।

केवल १८ वर्षों में जिस व्यक्ति ने सारे भारतवर्ष पर, नहीं! नहीं! बहुत से विदेशी प्रान्तों पर भी एक दफ़ा साम्राज्य स्थापित कर दिया, जिसने बिखरी हुई हिन्दू शक्ति को इतने थोड़े समय में सूत्रबद्ध कर दिया और सिल्यूकस के समान विजयी वीरों को भी अपने लोहे से परास्त कर दिया, वह सम्राट् कितना वीर, कितना उद्योगी और कितना कर्मशील होगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

मेगास्थनीज़ का वर्णन।

विजयी सेनापति सेल्यूकस सम्राट् चन्द्रगुप्त से पराजित होकर अपने देश को चला गया। वहां जाकर उसने अपने राजदूत मेगास्थनीज़ को चन्द्रगुप्त की राजसभा में भेजा। मेगास्थनीज़ बड़ा ही विद्या व्यसनी था। उसने अपनी भारतयात्रा का बहुत ही सुन्दर वर्णन लिखा है। *उस वर्णन में उसने भारत के रीति रिवाज, राहरस्म, उस समय की शासन प्रणाली आदि सभी बातों का विवेचन किया है।

मेगास्थनीज़ लिखता है कि, तत्कालीन भारतीय राजा का

* मेगस्थनीज़ का लिखा हुआ मूल ग्रंथ तो नष्ट हो गया, परन्तु उसमें से पिछले ग्रन्थकारों ने जो २ अंश अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है वही मात्र मिलता है। इसी के आधार पर इस ग्रन्थ में मेगास्थनीज़ का वर्णन लिखा गया है—

शासन बहुत ही सुसंगठित और सुदृढ़ है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के पास छः लाख पैदल सेना, तीस हज़ार घुड़ सवार, नौ हज़ार हाथी और सहस्रों रथ हमेशा तैय्यार रहते हैं। पाटलिपुत्र नगर एक बड़ा ही सुन्दर और सुदृढ़ शहर है। यह शहर करीब नौ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा है। लकड़ी का एक विशाल शहर पनाह से जिसके ६४ फाटक, ५७० बुर्जें, हैं नगर सुरक्षित है। उसके बाद २०० गज चौड़ी और पन्द्रह गज गहरी एक खाई है जो सोन नदी के जल से भरी रहती है।

राजमहल का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज़ लिखता है कि, यह महल सुन्दरता और वैभव की दृष्टी से संसार में अपनी सानी नहीं रखता। इसके खम्भे मुलम्मेदार सुनहरी वेलों और रुपहरी चिड़ियों की नक्काशी से बहुत ही सुन्दर मालूम होते थे। महल के चारों ओर बड़ी ही विशाल वाटिका थी। जिसके अन्दर जगह २ पर सुरम्य सरोवर में खेलती हुई रङ्ग विरङ्गी मछलियां, सुललित वापियें, वापियों के जलमें पड़ती हुई प्रातः—कालीन सूर्य्य की किरणें, हरे २ छोटे २ वृक्ष, वृक्षों पर मधुर नाद करती हुई भांति २ की सुन्दर चिड़ियाएँ, रमणीय कुंज, कुंजों में पड़ती हुई पानी की छोटी २ बूंदें, दर्शकों के चित्त को मोहित करती थीं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त को पशुओं की लड़ाई देखने का और शिकार खेलने का बहुत शौक था। सांडों, मेंढ़ों, हाथियों और गैंडों की लड़ाई सम्राट् बहुत ही चाव से देखते थे। शिकार भी उस समय बहुत ही साज सामान के साथ होता था। सम्राट् एक मचान पर बैठते थे। और घिरे हुए सुरक्षित बन के पशुओं का बाणों

से शिकार करते थे। कभी २ सम्राट् हाथी पर बैठ कर शिकार किया करते थे।

दिन में एक बार सम्राट् राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा की प्रार्थनाएँ सुनते तथा उन पर विचार करते थे। सर्व साधारण जनता को एक बार दर्शन देना सम्राट् अपना नित्य का कर्त्तव्य समझते थे।

चन्द्रगुप्त का राज्य-शासन।

सारे भारतवर्ष पर एकच्छत्री साम्राज्य स्थापित करनेवाले सम्राट चन्द्रगुप्त का राज्य प्रबन्ध कितना उच्च कोटि का होगा यह, बतलाने की आवश्यकता नहीं। इस विषय में सम्राट् को उनके धुरन्धर मंत्री चाणक्य से—जिन्हें लोग विष्णुगुप्त, कौटिल्य आदि कई नामों से पुकारते हैं—बहुत ही सहायता मिलती थी। हम संक्षिप्त में वहां पर उनकी शासन प्रणाली का कुछ विवेचन कर देना उचित समझते हैं।

सेना विभाग।

सम्राट् ने भिन्न २ विभागों के प्रबन्ध के लिये भिन्न २ समितियां नियुक्त कर रक्खी थीं। सेना का प्रबन्ध करने के लिये ३० सदस्यों की एक समर—परिषद् बना रक्खी थी। इस परिषद् को पांच २ व्यक्तियों की छः समितियों में विभक्त कर रक्खा था। प्रत्येक समिति की देखरेख एक एक विभाग पर रहती थी। पहली समिति के अधिकार में नौ—सेना का कार्य्य था। वह नौ—सेनाध्यक्ष से मिल कर कार्य करती थी। दूसरी समिति के अधिकार में भोजन का प्रबन्ध, शस्त्रों की अयोजना, रणवाद्य बजाने

वाले, कारीगर–जैसे सुनार, लुहार आदि–साईस और घसियारों की पुरौती का भार था। पैदल सेना की व्यवस्था के लिये तीसरी समिती नियुक्त थी, इसके अतिरिक्त चौथी समिति के अधिकार में घुड़ सवारों की, पांचवी के अधिकार में रथों की, और छठी के अधिकार में हाथियों की व्यवस्था का भार था।

नगर प्रबन्ध विभाग।

इसी प्रकार राजधानी पाटलिपुत्र के शासन के लिये भी तीस सदस्यों की एक परिषद् नियुक्त थी। यह परिषद् भी उपरोक्त परिषद् की ही तरह पांच २ व्यक्तियों की छः समितियों में बटी हुई थी। पहली समिति के अधिकार में उद्योग धन्धे सम्बन्धी प्रत्येक विषय के निरीक्षण का, केवल शुद्ध पदार्थों के क्रयविक्रय का और मजदूरी की दर को नियत करने का भार था।

दूसरी समिति नगर के विदेशी निवासियों और दर्शकों की चेष्टाओं की देख रेख करती थी। विदेशी लोगों की सहायता के लिये राज्य की ओर से खास आदमी नियुक्त रहते थे। उनके ठहरने का प्रबन्ध, उनके सामान की रखवाली, बीमार प्रवासियों की सेवा शुश्रुषा का भार, मृतक मनुष्यों के अन्तिम संस्कार का उत्तम प्रबन्ध तथा उनकी सम्पत्ति को उनके वारिसों के पास पहुंचाने का भार इन लोगों के जिम्मे रहता था।

तीसरी समिति के हाथ में जनता की जन्म मृत्यु के नियमित हिसाब को रखने का कार्य्य था। ऊंची और नीची सभी जातियों की जन्म मृत्यु की रिपोर्ट को लेना इस समिति का कर्त्तव्य था।

चौथी समिति के हाथ में वाणिज्य और व्यापार का महत्व

पूर्ण विभाग था। उस समय भी आज कल की तरह तौलने के बाँटों, और नापने के गजों पर सरकारी छाप लगी रहती थी। बिना छाप के बाँट और गज का जो व्यक्ति व्यवहार करता था वह राजकीय दण्ड का भागी होता था। व्यापारियों को व्यापार करने का अधिकार नियमित कर देकर प्राप्त करना पड़ता था। कर उगाहने आदि का भार भी इसी समिति पर था।

पांचवीं समिति के अधिकार में व्यापारिक वस्तुओं के निरीक्षण का भार था। यह समिति नई पुरानी वस्तुओं की छटनी करने के लिये नियुक्त थी। क्योंकि उस समय नई और पुरानी चीजों का महसूल भिन्न भिन्न लगता था।

उस समय बिके हुए माल के मूल्य का दसवाँ हिस्सा राज्य कोप में जमा करना होता था। इस कर को उगाहने का कार्य छठी समिति के अधिकार में था। इस कर को जो आदमी चुराने की नीयत करता था उसे प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी।

इसके अतिरिक्त नगर सम्बन्धी और और मामलों का प्रबन्ध तथा देवालयों, हाट, बाजारों आदि की सुव्यवस्था का भार भी इन्हीं सब समितियों पर था। इनको अच्छी हालत में रखना इसी सभा का एक कर्त्तव्य समझा जाता था।

दूर के देशों का प्रबन्ध करने के लिये सम्राट् के प्रतिनिधी नियुक्त रहते थे। उन प्रतिनिधियों में से, अथवा इन समितियों में से कोई व्यक्ति अन्याय तो नहीं करता है, उसकी देखरेख के लिये प्रत्येक व्यक्ति पर सम्राट् के जासूस लगे हुए रहते थे। ये जासूस स्त्री और पुरुष दोनों ही होते थे। इनकी व्यवस्था कितनी सुदृढ़ थी, इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अपराधियों को उस समय बहुत ही भीषण दण्ड दिया जाता था। यही कारण था कि उस समय अपराधों की संख्या बहुत ही कम रहती थी। चोरी करना, झूठी गवाही देना, आदि अपराधों के लिये प्राणदण्ड की सज़ा थी। इस कारण इस तरह के अपराध तो बहुत ही कम हुआ करते थे। यहाँ तक कि, लोग विदेश जाते समय अपने घरों पर ताला तक नहीं लगाते थे। केवल साँकल लगा कर ही चल देते थे।

उस समय राज्य की ओर से प्रजाहित पर कितनी निगाह रक्खी जाती थी इसका वर्णन करते हुए मेगास्थनीज़ लिखता है कि किसानों के सुभीते के लिये राज्य की ओर से सिंचाई के निमित्त नहरों आदि का प्रबन्ध था। इसकी व्यवस्था के लिए भी एक परिषद् नियुक्त थी। यह विभाग हर समय इस बात का ध्यान रखता था कि प्रत्येक व्यक्ति को जल का उचित अंश प्राप्त हो। दूरस्थ देशवासियों के लिए भी यह विभाग प्रबन्ध करता था। और इसी सुव्यवस्था के कारण रेल तार आदि सुभीताओं के न होते हुए भी दूरस्थित काठियावाड़ के गिरनार पर्वत के नीचे सुदर्शन नामक झील बनाई गई थी।

राज्य की ओर से एक विभाग ऐसा भी नियुक्त था जो राजमार्गों तथा दूसरी सड़कों को सुगम और सुरक्षित रखने का प्रबन्ध करे। उस विभाग की ओर से एक २ मील के अन्तर पर ऐसे साईनबोर्ड लगे रहते थे जिन पर बीच में फटनेवाले उप-मार्गों के नाम का उल्लेख रहता था। पाटलिपुत्र से लेकर एक सड़क सीधी पश्चिमोत्तर प्रान्त तक गई थी। जिसकी लम्बाई का अनुमान लगभग पांच हजार माईल का किया जाता है।

कृषि विभाग ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में कृषि का कार्य्य बहुत उन्नति पर था। आजकल के एग्रीकल्चर डिपार्टमेण्ट की तरह उस समय भी कृषि विभाग नियुक्त था। उसके प्रबन्ध कर्त्ता को "सीताध्यक्ष" कहा जाता था। "सीताध्यक्ष" कृषि विद्या का प्रकाण्ड पण्डित होता था। सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार की कृषि विद्याओं का उसे ज्ञान होता था। कृषि की पैदावार का छठा भाग राज्य में कर स्वरूप लिया जाता था। कृषक लोग सैनिक सेवा से बिलकुल अलग रक्खे जाते थे। मेगास्थनीज़ बड़े ही आश्चर्य्य के साथ इस बात को लिखता है कि "जिस समय देश के अन्दर घोर संग्राम मचा हुआ रहता था उस समय भी कृषक लोग शान्ति पूर्वक अपने खेती के काम में लगे रहते थे।"

चन्द्रगुप्त के समय में कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई का भी बड़ा उत्तम प्रबन्ध था। इसके लिए भी एक स्वतंत्र विभाग नियुक्त था। उस समय सिंचाई चार प्रकार से होती थी (१) हस्त प्रावर्त्तिय अर्थात् हाथ के द्वारा (२) स्कन्ध प्रावर्त्तिय अर्थात् कन्धे पर पानी उठा कर (३) श्रोतो यन्त्र प्रावर्त्तिय अर्थात् यन्त्र के द्वारा (४) नदी सर स्तटाक कूपोद्धाटम् अर्थात् नदी, तालाब और कुए के द्वारा।

उपरोक्त चारों प्रकार की सिंचाइयों में से पहली और दूसरी सिंचाई पर पञ्चमांश, तीसरी पर चतुर्थांश और चौथी पर तृतीयांश रोजकर लिया जाता था। इस बात का पूरा ध्यान

रक्खा जाता था कि, यथा समय प्रत्येक मनुष्य को सिंचाई के लिए आवश्यकतानुसार जल मिलता रहे। जहां पर नदी, तालाब, कुँए, वगैरह नहीं होते थे वहां पर राज्य की ओर से तालाब, नहर, तथा कुंए खुदवाए जाते थे। गिरनार की झील का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। पुण्यगुप्त नामक वैश्य (जिनके लिए चन्द्रगुप्त के साले होने की कल्पना की जाती है) ने जो उस समय पश्चिमी प्रान्तों का शासक था गिरनार पर्वत से निकलने वाली दो नदियों के पानी को रोकने के लिये एक छोटा और एक विशाल बाँध बँधवाया था। जिससे वहां एक झील सी बन गई थी। इस झील का नाम "सुदर्शन" रक्खा गया था। चन्द्रगुप्त के पश्चात् सम्राट् अशोक ने इससे नहरें भी निकलवाई थीं। इसके पश्चात् सन् १५० से कुछ पूर्व एक भयङ्कर तूफान आने से वह झील नष्ट हो गई। तब क्षत्रिय नरेश रुद्रदामन् ने इसे फिर बँधवाया था। उसके पश्चात् सन् ४५८ में स्कन्दगुप्त ने इसकी फिर मरम्मत करवाई। बाद में किस तरह यह झील नष्ट हुई इसका उत्तर देने में इतिहास चुप है।

आबकारी विभाग।

आजकल के "एक्साइज़ डिपार्टमेंट" की तरह उस समय भी नशीली वस्तुओं के लिए एक विभाग नियुक्त था। इसका अध्यक्ष "सुराध्यक्ष" कहलाता था। वह नगरों, गांवों और सैनिक कैम्पों में शराब की बिक्री का प्रबन्ध करता था। सर्व साधारण लोग शराब खरीद कर दुकान के बाहर नहीं ले जा सकते थे। केवल कुछ उत्तम चालचलन के व्यक्तियों को छोड़ कर सब

लोगों को दुकान में ही शराब पीना पड़ती थी। प्रत्येक मनुष्य को एक नियत मात्रा से अधिक तादाद में शराब देने की राज्य की ओर से मनाई थी। शराब विक्रेताओं का यह कर्त्तव्य था कि, वह आये हुए ग्राहकों के होश हवास की रक्षा करें। यदि नशे की धुन में किसी की वस्तु गुम हो जाती तो उसका जिम्मेदार शराब विक्रेता समझा जाता था।

मर्दुमशुमारी विभाग।

सेन्सेस डिपार्टमेण्ट की ही तरह मर्दुमशुमारी करने के लिए उस समय एक मनुष्य-गणना विभाग भी था। इसका मुख्य प्रबन्ध कर्त्ता "समाहर्त्ता" (जिसके विषय में पहले लिखा जा चुका है) नामक अधिकारी रहता था। समाहर्त्ता का अधीनस्थ प्रान्त चार भागों में विभक्त रहता था। उन चार भागों पर एक एक स्थानिक नियुक्त रहता था। स्थानिक के अधिकार में बहुत से "गोप" मनुष्य गणना का काम किया करते थे। स्थानिक, प्रदेष्टा और गोप कर्मचारियों की गुप्त देख रेख करने के लिए समाहर्त्ता की ओर से गुप्त निरीक्षक नियुक्त रहते थे। लोग सब समाचारों को इकट्ठा कर समाहर्त्ता के पास पहुँचा देते थे।

गोप नामक कर्मचारियों के कर्त्तव्य निम्नोक्त थे। (१) व्यापारी, शिल्पी, किसान, दास, गोपाल आदि लोगों की गिनती करना। (२) प्रत्येक ग्राम में बसने वाले चारों वर्णों के लोगों की अलग २ गिनती करना। (३) प्रत्येक घर के युवक और वृद्ध पुरुष और स्त्रियों की गणना करना एवं उनके चरित्र, कर्म, आय और व्यय का हाल जानना। (४) प्रत्येक घर के पालतू

पशु और पक्षियों की गणना करना। (५) कर देने वाले और कर न देने वाले मनुष्यों की संख्या का हिसाब रखना आदि।

प्रान्त की तरह प्रत्येक नगर की गणना करने वाला "नागरक" कहा जाता था। नगर भी प्रान्त की तरह चार भागों में विभक्त रहता था और प्रान्त की ही तरह उसमें भी स्थानिक, गोप, गुप्त निरीक्षक आदि लोग नियुक्त रहते थे।

न्याय विभाग।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में भी आजकल की तरह दीवानी और फ़ौजदारी की अलग २ अदालतें चलती थीं। दीवानी अदालत को उस समय "धर्मस्थीय" और फ़ौजदारी को "कण्टक शोधन" कहते थे।

सब से छोटी अदालत संग्रहण नामक दुर्ग में बैठती थी। यह दुर्ग दस गांवों के बीच में था। यह अदालत द्रोणमुख नामक किले (जो चार सौ गांवों पर होता था) अदालत के तावे में होती थी। द्रोणमुख की अदालत स्थानीय नामक दुर्ग की (जो आठ सौ गांवों पर होता था) अदालत के मातहत में रहती थी। इसके अतिरिक्त एक अदालत दो प्रान्तों के बीचवाले सीमास्थल पर और एक राजधानी में होती थी।

सब अदालतों से ऊपर सम्राट् की अदालत होती थी। सम्राट् कई जजों की सहायता से अभियोगों पर विचार करते थे। इसके अतिरिक्त उस समय ग्राम पंचायतें भी नियुक्त थीं। इनमें गांव के मुखिया और वृद्ध लोग पञ्च के रूप में बैठते थे। ये लोग साधारण अपराधों का निपटारा करते थे।

धर्मस्थयी अदालतों में उस समय तीन धर्मस्थ (जज) अथवा तीन अमात्य अभियोग सुनने के लिए बैठते थे। ये तीनों धर्मशास्त्र और राजनीति शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित होते थे। कण्टक शोधन अदालतों में तीन अमात्य या तीन प्रदेष्टा (न्यायाधीश) अभियोग सुनने के लिए नियुक्त रहते थे। दीवानी अदालतें अभियुक्तों पर केवल जुर्माना कर सकती थीं। पर फौजदारी अदालतों को बहुत से अधिकार प्राप्त थे। ये अदालतें भारी से भारी जुर्माना और प्राणदण्ड तक की सजाएँ दे सकती थीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन अदालतों के कर्तव्य, एवं धर्मस्थों और प्रदेष्टाओं के कर्त्तव्यों का विस्तृत रूप से वर्णन है। इसके अलावा कौन से अपराध के लिए कौन सा दण्ड देना चाहिए आदि बातों का भी विस्तृत विवेचन है। जिसका इस लघुकाय ग्रन्थ में समाना बिलकुल असम्भव है।

आरोग्य विभाग

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में आरोग्य रक्षा का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम था। इसके लिए भी एक परिषद् नियुक्त थी। उस में भी छः उपसमितियाँ काम करती थीं। स्थान २ पर औषधालय बने हुए थे जिस में बड़े अनुभवी और विद्वान वैद्य रहा करते थे। सब बीमारों का उचित इलाज मुफ्त में किया जाता था। कई स्थानों पर बड़े २ भैषज्यागार भी बने हुए थे जिन में शास्त्रोक्त विधि से औषधियां तैयार की जाती थीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के वैद्यों का वर्णन आया है। (१) भिषज (२) जांगली विद् (३) गर्भ व्याधि

संस्था। भिषज साधारण वैद्य को कहते हैं। जो लोग विष की परीक्षा करना जानते हों उनको जांगली विद कहते हैं। फौज में काम करने वाले सर्जनों अथवा सूतिकागृह में काम करने वाली दाइयों को गर्भव्याधि संस्था कहते हैं। आजकल की ही तरह सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में भी सेना के साथ फौजी डाक्टर रहा करते थे। इन लोगों के पास सब प्रकार के डाक्टरी यन्त्र, अगद स्नेह (Remedial oils) और घावों पर बांधने की साफ़ पट्टियां भी रहती थीं। सेना के साथ बीमारों के पथ्यादि की बहुत ही उत्तम व्यवस्था रहती थी। यहां तक कि, सेना के साथ हाथी, घोड़े, बैल आदि जो पशु जाते थे उन के लिए भी एक पशुचिकित्सा का जानकार अनुभवी वैद्य रहता था।

उस समय वैद्यकीय कार्यों में आने वाली औषधियों की खेती भी की जाती थी। जो लोग नई २ जड़ी बूटियों का आविष्कार करते थे उनको राज्य की ओर से सम्मान सूचक उपहार दिये जाते थे।

वैद्यों पर भी राज्य की ओर से कई गुप्तचर लगे हुए रहते थे। कोई भी मूर्ख वैद्य चिकित्सा नहीं करने पाता था। इसके अतिरिक्त वैद्यों के लिए इस बात का कानून बना हुआ था कि किसी मनुष्य को कोई भयङ्कर व्याधि हो जावे तो उसकी इत्तिला फ़ौरन सरकार को दे। अगर किसी वैद्य की बेपरवाही से रोगी मर जाता तो उसे उचित सज़ा दी जाती थी।

चन्द्रगुप्त के समय में मुर्दे की आशुतोष परीक्षा (Post mortem examination) अर्थात् चीरफाड़ का भी प्रबन्ध था। जिन मनुष्यों की मृत्यु आकस्मिक हो जाया करती थ

उसके मृत शरीर को चीर कर उन बातों का निर्णय किया जाता था जिनके कारण उसकी मृत्यु हुई है।

तात्पर्य्य यह है कि, उस समय औषधालयों, डाक्टरों, वैद्यों आदि का प्रबन्ध बहुत ही उत्तम ढङ्ग से था।

म्युनिसिपल विभाग

उस समय शहर सफ़ाई आदि बातों का भी पूरा ख़याल रक्खा जाता था। जनता के अन्दर किसी प्रकार की बीमारी न फैलने पावे इसका राज्य की ओर से पूरा प्रबन्ध किया जाता था। जो व्यक्ति घृत, तेल, नमक, सुगन्धित पदार्थ आदि वस्तुओं में खराब मिलावट करता था, उसे पूरी सजा दी जाती थी। सड़कों पर कूड़ा कर्कट फेंकना या गंदला जल डालना, जिस से दुर्गंधित कीचड़ हो जावे आदि कार्य्य भी सजा के योग्य समझे जाते थे। राजमहल, मन्दिर, गलियों, तालाब, नदी आदि स्थानों के आस पास मल मूत्र त्यागने की सख्त मनाई थी। मुर्दे गाड़ने अथवा जलाने का प्रबन्ध शहर से दूर एक नियमित स्थान पर कर दिया जाता था। उस स्थान के अतिरिक्त दूसरे स्थान पर जो मुर्दे जलाता अथवा गाड़ता उसे सजा दी जाती थी या उस पर जुर्माना होता था। छूत की बीमारी न फैले इसके लिए भी उचित प्रबन्ध था।

दैवी विपत्तियों से रक्षा

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आठ प्रकार की दैवी विपत्तियां मानी गई हैं। (१) आग (२) पानी (३) बीमारी (४) दुर्भिक्ष (५) चूहा (६) शेर (७) सांप तथा (८) राक्षस।

इन आठों प्रकार की विपत्तियों से रक्षा करने का भी उस समय पूर्ण प्रबन्ध था। पाटलिपुत्र में लकड़ी के मकान अधिकतर होनेसे आग लगने का डर अधिक रहता था। इसलिए आग से रक्षा करने के लिए राज्य की ओर से कई उपाय काम में लाये जाते थे। हर एक घर में घड़ा, सीढ़ी, रस्सी आदि दस प्रकार के यंत्र जिन्हें कौटिल्य अर्थशास्त्र में "दशमूली संग्रह" कहा है रहते थे। ग्राम के लोगों के लिए रात को घर के बाहर सोने की आज्ञा थी। इसके अतिरिक्त शहर में घांस, फूस, वगैरह के छप्पर बनाने की भी मनाई थी। हरएक मुहल्ले में राज्य की ओर से बहुत सा पानी जमा रहता था, जिससे आग बुझाई जाती थी।

पानी—नदी के किनारे वाले ग्रामवासियों को वर्षा की रातों में किनारे से दूर के मकानों में सुलाया जाता था, राज्य की ओर से हमेशा लकड़ी तथा वांस की नांवें तैयार रहती थीं। जिन्हें बाढ़ के समय नदी में डाल कर लोगों की रक्षा की जाती थी। कोई भी मनुष्य जिसके पास नाव हो अथवा वह तैरना जानता हो, यदि बाढ़ के अवसर पर बाढ़ पीड़ितों की सहायता न करे या भाग जाय तो उस पर १२ पण (एक प्रकार का सिक्का) जुर्माना किया जाता था।

दुर्भिक्ष–राज्य की ओर से हमेशा अन्न का एक वृहत् संग्रह मौजूद रहता था। जो दुर्भिक्ष के समय क्षुधित लोगों को कम मूल्य पर अथवा विना मूल्य वितरण किया जाता था। इसके अतिरिक्त राज्य की ओर से अकाल पीड़ित मनुष्यों को ऐसे स्थानों पर भेज दिया जाता था, जहां पर फसल अच्छी हुई हो।

अमीर लोगों पर ऐसे समय में टैक्स बढ़ा दिया जाता था अथवा उनसे ग़रीब प्रजा को मदद दिलवाई जाती थी।

सांप—सांपों से रक्षा पाने के लिये मकानों पर कुछ ऐसी दवाइयां पोत दी जाती थीं, जिनकी गन्ध के मारे सांप विष रहित हो जाँय। अथवा मकान से बाहर निकल जाँय।

इसी प्रकार चूहों तथा हिंसक जन्तुओं आदि का भी यथोचित उपाय किया जाता था।

अनाथों की सहायता

निस्सहाय ग़रीबों, विधवाओं, लूली लंगड़ी स्त्रियों, अथवा ऐसे अनाथ बच्चों के लिये जिनके पालक मर गये हैं, राज्य की ओर से समुचित प्रबन्ध था। निस्सहाय ग़रीबों को राज्य की ओर से ऐसा काम दिया जाता था जिन्हें वे सुभीते पूर्वक कर सकें। विधवाओं और लूली लंगड़ी स्त्रियों से राज्य की ओर से सूत कतवाया जाता था; और उसके बदले में उन्हें उचित मजदूरी दी जाती थी। एक स्वतन्त्र विभाग इस बात के लिए नियुक्त था कि वह विधवाओं के घर रुई पहुंचा दे। और उन्हें उचित मजदूरी देकर कता हुआ सूत वापस ले ले।

ख़ुफ़िया विभाग

(C. I. D. Department)

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ख़ुफ़िया विभाग बहुत ही अधिक उन्नति पर था। कई लोगों का अनुमान है कि आजकल पाश्चात्य देशों में ख़ुफ़िया विभाग का जैसा अच्छा प्रबन्ध है

वैसा पहले किसी भी देश में न था। पर यदि वे लोग सम्राट चन्द्रगुप्त के समय के खुफिया विभाग का वृत्तान्त पढ़ेंगे तो अवश्य उनका यह भ्रम दूर हो जायगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में खुफिया विभाग का जो वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर हम बहुत ही संक्षिप्त में इस विभाग का वृत्तान्त लिखते हैं।

उस समय खुफ़िया पुलिस के बहुत से अङ्ग थे। जिनमें से कुछेक निम्न लिखित हैं।—

(१) कापटिक (२) उदास्थित (३) गृहपतिक (४) वैदेहक (५) तापस (६) सभी (७) तीक्ष्ण (८) रसद (९) भिक्षुक (१०) मुण्डा (११) वृषली।

(१) दूसरों के दोषों को जानने वाले चलते पुरजे विद्यार्थियों के वेष में रहनेवाले खुफ़िया को "कापटिक छात्र" कहते हैं। इन विद्यार्थियों की मंत्री वगैरह बहुत ईज़्ज़त करते थे। वे उनको बहुत सा धन देकर कहते कि तुमको राजा की और मेरी शपथ है। तुम प्रजा में जिस किसी का भी नुक़सान होता देखो, शीघ्र ही मुझे बतलाओ।

(२) जो लोग सन्यासी तथा उदासी के रूप में रह कर जासूसी करते थे उन्हें "उदास्थित खुफ़िया" कहा जाता था। यह बहुत से विद्यार्थियों को साथ लेकर खेती बाड़ी, पशु पालन आदि का कार्य्य करते थे। इससे जो कुछ आमदनी होती थी उससे इनके अन्न वस्त्र का काम चलता था। ये चारों ओर, इधर उधर बैठ कर गुप्त समाचार प्राप्त करते थे और उन्हें अपने विभाग में पहुँचा देते थे।

(३) जो लोग ग़रीब तथा बेकार गृहस्थ किसानों के रूप

में रह कर खेती तथा अपने उद्योग धन्धों को करते हुए जासूसी कार्य्य करते थे उन्हें उस समय "गृहपतिक" कहा जाता था।

(४) गरीब बनियों के रूप में रह कर जो खुफिया आंटा, दाल, नोन, मिर्च आदि वस्तुएँ बेचते थे उन्हें "वैदेहक" कहा जाता था। ये लोग दीखने में तो बड़े सदाचारी और बुद्धिमान दिखलाई देते थे, पर गुप्त रूप से जासूसी का काम किया करते थे। इस कार्य्य के बदले में राज्य की ओर से इन्हें वेतन मिलता था।

(५) सिर मुण्डे तथा जटाधारियों के वेश में रहकर सरकारी काम करनेवाले लोग "तापस" अर्थात् तपस्वी कहे जाते थे। ये लोग समूह रूप में साथ रहकर सिद्ध और साधक का काम किया करते थे। प्रकट रूप से ये लोग एक या दो मास में एकाध बार कभी २ थोड़ा सा शाक तथा एकाध मुट्ठी अन्न खा लिया करते थे। पर गुप्त रूप से ये भरपेट भोजन कर लेते थे। वैदेहक के रूप में जासूसी करनेवाले बनिये, और दूसरे जासूस अप्रत्यक्ष रूप में इनसे खूब मिले हुए रहते थे। वे लोग सारी जनता में इस बात का प्रचार कर देते थे कि, अमुक बाबाजी बड़े सिद्ध और अलौकिक शक्ति सम्पन्न पुरुष हैं। इधर जो लोग उनके दर्शनार्थ आते, उनके विषय में बहुतसी बातें पहले ही ये लोग मालूम कर रखते थे। उनके आते ही उनका हाथ देख कर उन लोगों को वे बातें बतला देते थे। इसके अतिरिक्त किस स्थान पर आग लगने वाली है, किसको घाटा होनेवाला है, कहां चोरी होनेवाली है, किन २ लोगों को राज्य की ओर से इनाम मिलेगा, कौनसा राज्य कर्मचारी कहां बदला जायगा, आदि

बातें भी वे बतलाते थे। मंत्री लोग प्रायः इनसे मिले हुए होते थे। अतः वे कुछ कार्य्य इनकी कही हुई भविष्य वाणी के अनुसार कर देते थे। जैसे किसी को इनाम देना, किसी की बदली कर देना, आदि। इस तरह साधारण जनता की इन लोगों के प्रति बड़ी श्रद्धा हो जाया करती थी।

उपरोक्त पांच प्रकार के खुफिया विभाग वालों को राज्य की ओर से धन तथा सम्मान मिलता था। ये लोग राज कर्मचारियों के हृदय की भलाई बुराई का पता लगाने की कोशिश करते थे।

(६) जो अनाथ लोग राज्य की ओर से खाना कपड़ा पाते थे वे "सत्री" कहलाते थे। ये लोग लोगों के हाथ देख कर फल बतलाना, बाजीगरी और जादूगरी करना, फलित ज्योतिष करना, आदि काम करते थे। और दूसरे लोगों से मिल कर रहने का प्रयत्न करते थे।

(७) जो शूर, निडर तथा रुपये के निमित्त हाथी, शेर आदि जानवरों को लड़ाते थे वे लोग तीक्ष्ण कहे जाते थे।

(८) बन्धु, बान्धवों के प्रति उदासीन तथा द्वेष रखनेवाले क्रूर और आलसी लोग ज़हर देने के लिए नियुक्त किये जाते थे। इन्हें उस समय "रसद" संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

(९) ऐसी दरिद्र विधवा ब्राह्मणियों जो बहुत बकझक रखनेवाली हों, और नौकरी की तलाश में हों, परिव्राजिकाएँ (सन्यासिन के वेष में जासूसी करनेवाली) बनाई जाती थीं। ये मंत्री, अमात्य आदि बड़े २ राजधिकारियों के घरों में आती जाती थीं। और वहाँ से जो गुप्त समाचार मिलते ही उन्हें राजा के पास पहुँचाती थीं।

(१०-११) मुण्डा (सिर मुण्डी हुई औरत) तथा वृषली (जो दासी के वेष में खुफ़िया का काम करे) इनके कार्य्य भी परिव्राजिका की ही तरह होते थे।

ये सब जासूस भिन्न २ देशों के रीति रिवाजों, और तरह २ की भाषाओं के जानकार होते थे। सब प्रकार की कारीगरी और कुलीनों के रहन सहन से वाकिफ़, राजभक्त, कार्य्य पटु, तथा शक्तिशाली लोग ही इस विभाग में नियुक्त किये जाते थे।

मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, ड्योढ़ीदार अन्तःपुर रक्षक समाहर्ता (कलक्टर) कोषाध्यक्ष, हवल्दार, नगराध्यक्ष व्यवसायाध्यक्ष, मंत्रीसभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, सीमारक्षक, तथा जंगल-रक्षक आदि सभी उच्च राजकर्म्मचारियों पर ये जासूस गुप्त रूप से लगे रहते थे। ये लोग कहां २ पर आते जाते हैं, तथा किन २ से मिलते हैं इस बात की जांच "तीक्ष्ण" लोग-जो छाता लगानेवाले, अतरदान तथा गुलाबदान रखने वाले, पंखा चलानेवाले, खड़ाऊ उठानेवाले, आसन लगानेवाले, तथा साईस के रूप में रहते थे-किया करते थे। इन लोगों से जो कुछ समाचार प्राप्त होते उन्हें "सभी" लोग अपने २ विभागों में पहुँचा देते थे।

कहार, नाई, अतर लगानेवाला, स्नान करानेवाला, पानी भरनेवाला, आदि लोगों के वेषमें रसद लोग रहते थे। ये लोग इन रूप में रहकर जितने समाचार प्राप्त कर सकते, करते थे।

गूंगे, बहरे, बेवकूफ़ तथा अन्धे के वेष में नटनर्तकी, गवैये, बजैये, भाण्ड, कवि, चारण लोग तथा खुफ़िया औरतें उपरोक्त

राज्य कर्मचारियों की गुप्त बातों को लेकर परिव्राजिकाओं के द्वारा असली हाल अपने विभागों में पहुँचा देती थीं।

भिन्न २ विभागों के प्रबन्ध कर्ता अपनी निर्द्धारित की हुई गुप्त लिपि तथा संकेतों से खुफ़िया लोगों को इधर उधर भेजते थे। खुफ़िया और उनके विभाग परस्पर में एक दूसरे को न जानने पाते थे। जहां खुफ़िया भिखमङ्गी की पहुँच न होती थी वहां पर ड्योढ़ीदार कारीगरीन, दासी आदि गुप्त लिपि अथवा ईशारों से अन्दर की बात बाहर पहुँचा देती थीं। अगर कोई बड़ा मामला होता तो आग लगा कर, अथवा विष प्रयोग करके झट बीमारी वगैरह का बहाना कर बाहर निकल जाते थे।

यद्यपि खुफ़िया में वे ही लोग भरती किये जाते थे जो सत्य-वक्ता एवम् विश्वासमात्र हों। तथापि उनके लिये भी कई कठोर नियम बंधे हुए थे।

जब तीन विभागों का समाचार एक सा होता था, तभी वह सत्य माना जाता था। यदि समाचार बार २ भिन्न २ प्रकार का मिले तो उस से सम्बन्ध रखनेवाले खूफ़िया लोग भीतर ही भीतर गुप्त रीति से पिटवा दिये जाते थे। अथवा यदि किसी महत्त्व पूर्ण कार्य्य में यह मतभेद होता तो खूफ़िया लोग गुप्त रीति से मरवा दिये जाते थे। गुप्तरीति से दिये जानेवाले इस दण्ड को उस समय "तूष्णीं दण्ड" कहते थे।

अपने शत्रु राजा के समाचार जानने के लिये खुफ़िया लोगों को शत्रु राष्ट्रमें बसाया जाता था। शत्रु, मित्र, साधारण जनता तथा राजकर्मचारी सभी लोगों के पीछे जासूस लगा दिये जाते थे। शत्रु के महलों में नाच करने वाली, गानेवाली, दासी, आदि

के रूपमें खुफ़िया पुलिस रक्खी जाती थी। क़िलों के भीतर बनिये और व्यापारी खुफ़िया का काम करते थे। किलों के बाहर साधु वैरागी और तपस्वी के रूप में जासूस रहते थे। शत्रु के गांवो में किसान, राष्ट्र सीमा पर ग्वाले, जङ्गलों में भील, खुफ़िया का काम करते थे।

इसके अतिरिक्त इस बात का भी पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि, कहीं हमारे राज्य में शत्रु के गुप्तचर भी काम कर रहे हैं या नहीं। इसके लिये स्वराष्ट्र के बहुत ही विश्वासपात्र गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे। नगर और गांवों में आनेवाले नये २ यात्रियों पर जासूस लोग हमेशा तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे। तीर्थ, सभा, शाला, यात्रीसंघ, तथा भीड़ भाड़ में गुप्तचर लोग जाते और आपस में ही झगड़ा करके लोगों के भावों का पता लगा लेते थे। इन लोगों के गुप्त समाचारों से राज्य प्रबन्ध में जो दोष नज़र आते वे फ़ौरन दूर कर दिये जाते थे। जो लोग राजा से नाराज़ होते उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी। यदि ऐसे लोग कोशिश करने पर भी प्रसन्न न होते तो वे शहर से बाहर कर दिये जाते, अथवा राजकुमार आदि किसी प्रतिष्ठित पुरुष से लड़ा दिये जाते, अथवा भीतर ही भीतर किसी षड्यन्त्र के द्वारा मरवा दिये जाते थे। मतलब यह है कि, उन्हें शत्रुओं का सहारा लेने को बिलकुल मौका न दिया जाता था।

अर्थशास्त्र के अन्दर कौटिल्य लिखते हैं कि, शत्रु अपना काम प्रायः चार प्रकार के लोगों को प्रलोभन देकर-उन्हें अपनी ओर फोड़ कर किया करता है। वे चार प्रकार के लोग निम्नाङ्कित हैं:—

(१) क्रुद्ध (२) भयभीत (३) लोभी (४) और मानी। क्रुद्ध उन लोगों को कहते हैं, जिन्हें राज्य की ओर से किसी प्रकार का वचन देकर धोखा दिया गया हो, जिन्हें राज दर्बारियों ने तङ्ग कर रक्खा हो, जो अपने पैतृक अधिकार से वंचित कर दिये गये हों, जो राज्याधिकार से पदच्युत कर दिये गये हों, अथवा जिनकी प्रतिष्ठा बिगड़ गई हो, जो जेल में डाले गये हों, गुप्त रीति से पीटे गये हों, जो अपराध करते समय पकड़े गये हों, जिनका सामान जप्त कर लिया गया हो, जिनके बन्धु बान्धवों में से किसी को देश निकाला दिया गया हो, अथवा जिनका धन हरण कर लिया गया हो, इत्यादि। मतलब यह है कि, जो राज्य की ओर से किसी भी प्रकार से क्रुद्ध हो गये हों, वे "क्रुद्ध" कहलाते हैं।

भयभीत वर्ग के लोग वे कहलाते हैं जो अपनी ही भूल से हानि उठा चुके हों; जिनके दुष्ट कर्म सब को ज्ञात हो गये हों, जिनकी भूमि छिन गई हो, अथवा जो किसी भी कारण से राज्य की ओर से भयभीत हो रहे हों उन्हें "भीतवर्ग" कहते हैं।

जो लोग किसी आकस्मिक घटना से एकदम धनवान से दरिद्री हो गये हों, जो कंजूस हों अथवा जिन्होंने दुर्व्यसनों में पड़ कर अपने ही घर की बरबादी कर डाली हो, ऐसे लोग "लोभी वर्ग" के कहलाते हैं।

मानी लोग उन्हें कहते हैं जो अपने को सबसे बड़ा समझते हों, जो अपने बराबर वाले को सम्मानित होते देख कर उससे ईर्षा करते हों, बिना विचारे किसी दुर्धर्ष कार्य्य में हस्तक्षेप करते हों, जो नीच लोगों के द्वारा सम्मानित हों, इत्यादि।

इस प्रकार के लोगों की जांच खुफिया पुलिस नाना प्रकार के ज्योतिषियों जैसे भाग्यफल बताने वाले, हाथ देखनेवाले का रूप धर कर किया करती थी। कभी २ सिरमुण्डे अथवा जटाधारी सन्यासियों का रूप धर कर भी वह इस काम को करती थी। ये लोग इन चारों तरह के लोगों में हिल मिल कर उन्हें बहकाने की कोशिश करते थे। कुछ लोगों के सम्मुख बनावटी रूप से वहां के राजा के अत्याचारों की कहानी सुना कर उसको दूसरे राजा की ओर मिल जाने के लिये ये लोग कहते थे। भयभीत लोगों को इस प्रकार कह कर कि, "राजा तुम पर झूठा संदेह करता है; इसलिये तुम दूसरे देश में क्यों नहीं चले जाते" परीक्षा लिया करते थे। लोभी मनुष्यों को यह कह कर आजमाते थे कि, "यह राजा नीच आदमियों की बड़ी कदर करता है, ऐसे आदमी की आप क्या नौकरी करते हैं, कहीं दूसरी अच्छी जगह क्यों नहीं ढूंढते हैं।" मानी लोगों के सम्मुख बनावटी रूप से "हरे! हरे! यह राजा आपके समान महापुरुषों की बिलकुल इज्जत नहीं करता, अमुक राजा इस प्रकार के लोगों की क़दर करना जानता है" इस प्रकार कह कर ये लोग उन लोगों के हृदय की थाह लेते रहते थे। यदि इस प्रकार के प्रलोभनों से किसी का चित डांवाडोल होता हुआ देखते अथवा किसी की नीयत बिगड़ने का इनको ख़याल होता, तो फ़ौरन उसका संवाद अपने विभाग को देते थे। जहाँ से फ़ौरन उसका प्रबन्ध होता था। जो मनुष्य इनकी परीक्षा में अर्थात् राजभक्ति में पूरा उतरता उसे राज्य की ओर से धन और सम्मान दिया जाता था।

इसी प्रकार डांकू-चोरों को पकड़ने के लिये खुफ़िया सत्री के रूप में अथवा किसी डाकू का वेष धारण करके उनमें जा मिलते थे और फ़ौरन चोरों को पकड़वा देते थे।

इस के अतिरिक्त युद्ध के समय में शत्रु के कैम्पों में घुसकर उन के सेना-बल का, उनकी शक्ति का, उनकी गुप्त मंत्रणा का पता लगानेवाले जासूस अलग रहते थे। उन सब का विवरण करने से पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाने का डर है। इस कारण इससे अधिक जानने के इच्छुकों को कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए*। इस पुस्तक के लिए तो इतना ही बहुत अधिक था, पर प्रसङ्ग छिड़ जाने के कारण इतना लिखना पड़ा।

जिस साम्राज्य के अन्दर इस प्रकार का सुदृढ़ प्रबन्ध हो, उनके राज्य में यदि चोरी, व्यभिचार, अन्याय, विश्वासघात आदि अपराध बहुत ही कम होते हों तो, इसमें क्या आश्चर्य है? इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चन्द्रगुप्त का राज्य प्रजातंत्र न था, पर जहां की शासन-प्रणाली इतनी सुन्दर हो, वहां का राजतंत्र भी आजकल के प्रजातंत्र शासन से उत्तम है।

कर्मचारियों का वेतन।

चन्द्रगुप्त के समय में भिन्न २ कर्मचारियों को क्या वेतन मिलता था, यह निम्नाङ्कित तालिका से स्पष्ट हो जाता है:—

---

* कौटिल्य के अर्थशास्त्र का मूल्य ४) है। मिलने का पता यह है:—
हिन्दी साहित्य मन्दिर, सिटी बनारस।

(१) गुरु, पुरोहित, राजाध्यापक, महामंत्री, सेनापति, युवराज, राजमाता और महारानी—

४८००० पण* वार्षिक

(२) पुलिस के उच्चाधिकारी, समाहर्ता, नगर के द्वार और राजप्रासाद का रक्षक, आदि—

२४००० पण वार्षिक

(३) दूसरे राजकुमार और उनकी माताएं, भिन्न २ विभागों के उत्तम पदाधिकारी, कौंसिल के सदस्य, प्रधान सीमारक्षक—

१२००० पण वार्षिक

हाथी, घोड़े आदि राज्य-पशुओं के अधिष्ठाता—

८००० पण वार्षिक

पलटन, घुड़सवार, तथा गाड़ियों के अधिष्ठाता—

४००० पण वार्षिक

एक नियत काल के पश्चात् प्रत्येक पदाधिकारी पेंशन का अधिकारी हो जाता था। यदि कोई पदाधिकारी सरकारी नौकरी करते हुए मर जाता तो उसके कुटुम्ब का पोषण राज्य की ओर से होता था।

---

* विन्सेण्ट स्मिथ के मतानुसार एक पण क़रीब ।॥।) का होता था। पर राय बहादुर ओझाजी कई प्रमाणों से यह सिद्ध करते हैं कि, एक पण एक पैसे के बराबर होता था। साथ ही इस बात को स्वीकार करते हुए कई लेखक यह कहते हैं कि पण एक पैसे के बराबर तो होता था पर उस समय एक पैसे का उतना ही मूल्य समझा जाता था, जितना आज कल एक गिनी का। बात कहां तक सत्य है, कुछ कहा नहीं जा सकता। —लेखक।

इस वेतन का अनुमान करते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि, उस समय जीवन-निर्वाह की सामग्री आज कल के माफिक महंगी न थी।

चन्द्रगुप्त के समय में सामाजिक नियम

हम पहले लिख आए हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बौद्ध और जैन धर्म्म का अधिक प्रचार था। स्वयं सम्राट् चन्द्र-गुप्त जैनधर्म्मावलम्बी थे। यह बात कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है। लेकिन—जैन और बौद्ध धर्म का इतना आधिक्य होने पर भी—सनातन हिन्दू-धर्म बिलकुल नष्ट नहीं हो गया था। वह भी हिन्दुस्थान के कई स्थानों में बहुतायत से प्रचलित था। खास कर वर्णाश्रम धर्म तो उस समय प्रायः सभी स्थानों में प्रचलित था। उस समय की समाज-रचना भी इन्हीं चार वर्णों के अनुसार थी। यद्यपि बुद्धदेव के पहले की तरह उस समय ब्राह्मणों के अत्याचार न होते थे तथापि ब्राह्मणों के अधिकार उस समय भी और वर्णों की अपेक्षा कुछ अधिक ही थे। शूद्रों और स्त्रियों के अधिकार उस समय भी बहुत कम थे। स्त्रियां उस समय भी पुरुषों की सम्पत्ति मात्र ही समझी जाती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक स्थान पर लिखा है कि—

"यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो तो उसको वन्ध्या समझी जाय। यदि उसके मृत बालक पैदा हुआ हो तो आठ साल तक, यदि लड़कियाँ पैदा होती हों तो बारह वर्ष तक उसका पति प्रतीक्षा करे। यदि इस समय में भी उसके लड़का पैदा न हो तो उसका स्त्री धन, दहेज का धन आदि वापस करके

राज्य को २४ पण दण्ड स्वरूप दे। इसके पश्चात् वह चाहे जितनी स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है; क्योंकि, स्त्रियाँ लड़के पैदा करने के खातिर ही हैं।"

इससे मालूम होता है कि, उस समय स्त्रियाँ केवल सन्तान पैदा करने की ही वस्तु समझी जाती थीं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि, उस समय दाम्पत्य प्रेम बिलकुल ही नष्ट हो गया था तथापि इतना अवश्य है कि, स्त्री और पुरुषों के पवित्र प्रेम की जो ऊंची मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के काल में थी वह बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी।

विवाह सम्बन्धी नियम

चन्द्रगुप्त के समय में विवाह के कई प्रकार के अङ्ग माने जाते थे। ब्राह्म विवाह, प्रजापत्य विवाह, आर्ष्य विवाह, दैव विवाह, ये चार विवाह धर्मविवाह समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त गांन्धर्व, पैशाच और राक्षस विवाह भी उस समय प्रचलित थे। चार प्रकार के धर्म विवाहों में एक दूसरे के परित्याग करने का रिवाज न था। शेष तीन प्रकार के विवाहों में निम्न नियमों के अनुसार स्त्री पति का अथवा पति स्त्री का त्याग कर सकता था:—

(१) जो स्त्री अपने पति से द्वेष रखती हुई सात मासिक धर्म तक दूसरे पुरुष की कामना करती रही हो वह अपने गहने पति को लौटा दे और उसे दूसरा विवाह करने की आज्ञा दे दे। इसी प्रकार जो पुरुष अपनी स्त्री को न चाहता हो वह उसको वैरागीन, सम्बन्धी, रिश्तेदार अथवा परिवार के लोगों के

पास जाने से न रोके। जो पुरुष अपनी स्त्री को झूठमूठ ही किसी प्रकार से बदनाम करता हो, उस पर जुर्माना किया जाता था।

(२) यदि पति स्त्री को छोड़ना न चाहे तो स्त्री नाराज होते हुए भी उसे नहीं छोड़ सकती है। इसी प्रकार पति भी स्त्री को नहीं छोड़ सकता है। परित्याग उसी हालत में संभव हो सकता है, जब दोनों ही के मन एक दूसरे से फट गये हों।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता है कि उस समय समाज में पुनर्विवाह भी प्रचलित था। जैसे—

"नीच, विदेश गये हुए, राज्य का अपराध किये हुए, दूसरे का खून किये हुए, पतित, त्याज्य तथा नपुंसक पति को स्त्री सदा के लिए छोड़ सकती है।"

"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अथवा शूद्र किसी भी वर्ण की स्त्री का पति यदि विदेश चला जाय और नियत अवधि से बहुत दिनों तक वापस न आये, तो वह स्त्री कम से कम एक साल तक उसकी प्रतीक्षा करे, यदि उसके सन्तान हो तो कुछ अधिक समय तक करे। यदि उसका पति खाने पीने का प्रबन्ध कर गया हो तो दूने समय तक उसकी प्रतीक्षा करे। जिनमें खाने पीने का प्रबन्ध न हो, उन्हें उनके भाई बन्ध अथवा जात बिरादरी के लोग मदद करें। इसके बाद वह विवाह कालीन धन लौटा कर दूसरे व्यक्ति के साथ विवाह कर सकती है"।

और भी कई प्रमाण ऐसे हैं जिनमें पता चलता है कि उस समय कुछ शर्तों के साथ में पुनर्विवाह प्रचलित था। असवर्ण विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित न थी। अर्थात् एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण का विवाह नहीं होता था।

चन्द्रगुप्त के समय में ग्राम-रचना

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ग्राम-रचना का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम था। जो लोग किसी भी उजड़े हुए ग्राम को पुनः बसाते, अथवा किसी नये ही ग्राम की रचना करते उन्हें राज्य की ओर से बहुत साधन और सम्मान प्राप्त होता था। प्रत्येक ग्राम में कम से कम सौ और अधिक से अधिक पाँचसौ परिवारों का समुदाय रहता था। उनकी सीमा दो मील से लेकर चार मील तक रहती थी। इन ग्रामों की रचना अधिक दूरी पर न की जाती थी। बल्कि ऐसे ढङ्ग से ये बसाये जाते थे जिससे ये सहज ही में एक दूसरे की मदद कर सकें। नदी, पहाड़, जङ्गल, पेड़, गुहा, तालाब, बड़, पीपल, आदि निशानों से उनकी सीमा नियुक्त की जाती थी। प्रति आठसौ ग्रामों के बीच में "स्थानीय" चारसौ ग्रामों के बीच में "द्रौण मुख," दोसौ ग्रामों के बीच में "खार्वटिक" तथा दस ग्रामों के बीच में "संग-हण" नामक किले बनाये जाते थे।

इन ग्रामों में बसने वाले ऋत्विक, आचार्य्य, पुरोहित, तथा श्रोत्रिय लोगों को राज्य की ओर से जागीरी मिलती थी। ग्रामाध्यक्ष, संख्यायक, गोप, वैद्य आदि राजसेवकों को भी भूमि दी जाती थी। पर उन लोगों को उसके बेचने अथवा गिरवी रखने का अधिकार न होता था। जो लोग ज़मीन का लगान देते थे, उन्हें उतनी ही ज़मीन दी जाती थी जो एक मनुष्य के लिये पर्याप्त हो। जो आदमी अपनी भूमि को नहीं जोतता था, उससे भूमि छीन कर दूसरों को दे दी जाती थी। ग्रामों में भोग

विलास के लिये कोई भी विशाल मकान नहीं बना सकता था। इसके अतिरिक्त भांड़, नट, नर्तकी, गायक आदि लोग भी ग्रामों में नहीं जाने पाते थे। क्योंकि, इनके कारण कृषकों का समय व्यर्थ में बरबाद होता है, जिससे खेती में नुकसान पहुँचने की सम्भावना रहती है।

खेती की वृद्धि के लिए राज्य की ओर से दूर २ से तालावों और नहरों के द्वारा पानी लाया जाता था अथवा जो लोग इस प्रकार का कार्य्य करना चाहते उन्हें राज्य की ओर से सहायता मिलती थी।

शत्रु के षड्यन्त्रों में फंसे हुए, जंगलों से घिरे हुए, व्याधि तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित स्थानों पर ग्राम नहीं वसाये जाते थे।

राज्य की आमदनी और उसका प्रबन्ध

उस जमाने में राज्य की आमदनी के सात प्रकार के मार्ग थे।

(१) दुर्ग (२) राष्ट्र (३) खनि (४) सेतु (५) वन (६) व्रज (७) वणिक पथ।

(१) चुंगी, जुर्माना, तोल माप, शराबखाना, बूचड़खाना, सूत, तेल, घी, नमक, रण्डी, जुवा, मकान, तथा दरवाजे से बाहर वसूल किये जाने वाले कर "दुर्ग" कहे जाते हैं।

(२) कृषि का राज्यस्व, धार्मिक कर, बटाई का कर, रुपये के रूप में लिया हुआ राज्यस्व, व्यापारीय कर, नदीपाल के द्वारा संग्रहीत किया हुआ नौका का किराया, चारागाह, सड़क का कर आदि "राष्ट्र" कहलाते हैं।

(३) सोना, चांदी, हीरा, माणिक, मोती, शंख, लोहा, तांबा, आदि से जो आमदनी होती है उसे "खनि" कहते हैं।

(४) फल फूल के बगीचे, तरकारी के खेत तथा कन्दमूल आदि पर जो कर लिया जाता उसे "सेतु" कहते हैं।

(५) पशु, मृग, लकड़ी, घास, हाथी आदि के जङ्गलों को "वन" कहते हैं।

(६) गाय, भैंस, बकरी, ऊँट, घोड़ा, खच्चर, गदहा आदि "व्रज" कहे जाते हैं।

(७) व्यापार के लिए नियुक्त जल मार्गों और स्थल मार्गों को "वणिकपथ" कहते हैं।

इन सातों प्रकार की आमदनियों पर देखरेख रखने के लिए तथा और भी कार्य्य करने के लिए राज्य की ओर से एक "समाहर्ता" नियुक्त रहता था, जिसे आज कल की भाषा में "कलेक्टर" या "कमिश्नर" कह सकते हैं।

समाहर्ता के अधिकार में इन सब करों और दूसरी आमदनियों को वसूल करने वाले भिन्न २ अधिकारी रहते थे। जैसे कोष्ठगाराध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष (चुंगी वसूल करने वाला) सीताध्यक्ष (ज़मीन का कर वसूल करने वाला) खनिजाध्यक्ष (खानों की आमदनी इकट्ठा करने वाला) कुलाध्यक्ष (जंगली पदार्थों का अध्यक्ष) सुराध्यक्ष (शराब आदि का टैक्स लेने वाला) गणिकाध्यक्ष, नावाध्यक्ष आदि। ये सब लोग अपने विभाग का राज्य कर इकट्ठा करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्यारह प्रकार के राज्य-कर बतलाये हैं।

(१) सीता (२) राष्ट्र (३) ऋयिम (४) परिवर्तक

(५) प्रामित्यक (६) आप मित्यक (७) सिंहनिका (८) अन्य जात (९) व्यय प्रत्याय (१०) व्याजी (११) उपस्थान ।

इन सब करों का व इनकी वसूली का विस्तृत विवेचन करना इस लघुकाय ग्रन्थ में बिलकुल असम्भव है। अतएव इतना ही कह देना पर्याप्त है कि, इन करों की वसूली बिलकुल नियम-पूर्वक होती थी। जो लोग कर देने से जी चुराते उनको साहस और अर्थ दोनों प्रकार के दण्डों में से कोई भी एक दण्ड होता था।

दण्ड-विधान

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में दण्ड विधान बहुत ही कठोर था। सम्भव है इस बात को आज कल के सभ्यताभिमानी लोग पसन्द न करें। पर उससे एक लाभ अवश्य उस समय हुआ था। दण्डों की इस भयङ्करता को देख कर अपराध करनेवालों की संख्या बहुत कम हो गई थी। मेगास्थनीज वगैरह यात्रियों के विवरणों को देखने से पता चलता है कि उस समय बहुत ही कम अपराध होते थे। और दण्ड विधान को व्यवहारिक रूप देने का बहुतही कम अवसर मिलता था। हमारे पास यहां इतना स्थान नहीं है कि, हम सब प्रकार के दण्डों का विस्तृत विवेचन करें। फिर भी कुछ थोड़े से प्रधान २ दण्डों का जिक्र कर देना अनुचित न होगा।

[१] जो आदमी फन्दा डाल ने अथवा गांठ कतरने के अपराध में पकड़ा जाता तो पहली बार उसे तर्जनी (अंगूठे के

पास वाली उंगली) काटने का, दूसरी वार अंगूठा काटने का, तीसरी वार दाहिना हाथ काटने का और चौथी वार में मृत्यु का दण्ड दिया जाता था। पहली, दूसरी और तीसरी वार में यदि वह दण्ड से मुक्त होना चाहता तो उसे क्रमशः ५४, १००, और ४०० "पण" जुर्माने के देने पड़ते।

[२] सेंध लगा कर माल चुराने वाले का कंधा काट दिया जाता था। अथवा उस पर २०० पण जुर्माना किया जाता था।

[३] औरत को भगाने तथा व्यभिचार करने वाले पुरुष के नाक कान काट लिये जाते थे अथवा उसे ५०० पण जुर्माने के देने पड़ते थे।

[४] यदि कोई मनुष्य किसी कारीगर के अङ्ग की हानि कर दे तो उसका भी वही अङ्ग काट लिया जाता अथवा उसे प्राणदण्ड तक दे दिया जाता था।

[५] यदि किसी लड़ाई झगड़े में कोई किसी को मार दे तो उसे कठिन मृत्युदण्ड दिया जाता था।

[६] उन सब लोगों को प्राणदण्ड दिया जाता था जो किसी की हत्या कर डाले, जो वारम्बार रण्डियों के यहां जाय, लोगों को फजूल में बार २ तकलीफ़ दे, दूसरे के मकानों को बार २ तोड़े, झूंठी २ खबरें उड़ावे, पथिकों को लूटे, अथवा मारे या बारम्बार चोरी करे।

[७] जो कम उम्रवाली बालिका के साथ बलात्कार करता था, उसके दोनों हाथ पैर काट दिये जाते थे। यदि वह लड़की मर जाती थी तो अपराधी को भी मृत्युदण्ड दिया जाता था।

[८] जो मासी, बुआ, मामी, गुरुआनी, बहू, बेटी तथा

बहिन के साथ व्यभिचार करता था उसकी कामेन्द्रिय काट कर मृत्युदण्ड दिया जाता था।

[९] यदि कोई अरक्षित ब्राह्मणी का धर्म भंग करे तो इस अपराध में क्षत्रिय को उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। वैश्य का सर्वस्व-हरण कर लिया जाता था तथा शूद्र को भूसी की आग में जलाया जाता था।

[१०] जो कोई राज-भार्य्या के साथ गमन करता उसे घड़े में बन्द कर आग में डाल दिया जाता था। जिससे घड़े के भीतर अपराधी तड़फ २ कर प्राण दे देता था।

इस प्रकार और भी भिन्न २ अपराधों के लिये नाना प्रकार के दण्ड नियुक्त थे।

लेकिन दण्ड दाताओं को यह हिदायत रहती थी कि दण्ड देते समय वे अपराधी की हैसियत का पूरा २ ध्यान रक्खें। वे इस बातको पूरी तरह सोचें कि, उसने किस ढङ्गका अपराध किया है। किन परिस्थितियों में पड़ कर उसे यह अपराध करना पड़ा, वे कारण बड़े हैं अथवा छोटे, अपराधी राज कर्मचारी है, या साधारण व्यक्ति ? आदि सब बातों को सोचकर, उन्हें उसकी उचित व्यवस्था देना चाहिए।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और जनता का चारित्रिक विकास

सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन में सभी देशवासी स्वाधीन थे। गुलामों के प्रति इतना सद्व्यवहार होता था कि, उन्हें "गुलाम" शब्द सम्बोधित करना भी अनुचित मालूम होता है। विदेशियों के प्रति जो सद्व्यवहार किया जाता था, उसका वर्णन पहले

किया जा चुका है। कहने का मतलब यह है कि, सभी लोग सुखी और सम्पन्न थे। स्ट्रैबो नामक एक लेखक लिखता है कि, "भारतवासी यज्ञों के सिवा कभी शराब नहीं पीते थे। सत्य-परायणता और वचननिर्वाह भारतीय जनता का एक व्यापक गुण था। उस समय के लोगों में लेनदेन आदि के विषयों पर कभी मुकद्दमेबाजी नहीं होती थी"। वचन को भङ्ग करना तो उस समय के लोग प्रायः जानते तक न थे। लेनदेन, में लिखा पढ़ी, गवाहों तथा जमानत की जरूरत न थी। ईमानदारी यहां तक बढ़ी हुई थी कि किसी तरह के जबानी सौदे, निश्चय अथवा अमानत के लिए लिखापढ़ी की जरूरत ही न पड़ती थी। उस समय के लोग विश्वास के महत्व को जानते थे, धर्म के रूप को समझते थे तथा सत्य के सौन्दर्य्य पर मुग्ध थे। चोरी वगैरह का यह हाल था कि मालताल को अरक्षित अवस्था में बिना ताले कुंजी के छोड़ जाते थे। न कोई किसी पर अन्याय करता और न कोई किसी के अन्याय को सहन करता था। भारतीय सम्राट् विदेशों पर आक्रमण करने को धर्म-विरुद्ध समझते थे। मतलब यह है कि उस समय सत्यधार्मिकता का बहुत आदर था।

जो जनता सम्राट् चन्द्रगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने के पहले इतनी विश्रृंखल हो रही थी, एक सुसंगठित शासन के होते ही उसका कितना विकास हो गया, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। खुफिया पुलिस, दण्डविधान, आदि अनेक बाह्य कारण इस बात के हो सकते हैं। पर सबसे बड़ा कारण इस विकास का सम्राट् चन्द्रगुप्त थे। इनकी कर्मठता, विवेक शीलता तथा धार्मिक शीलता का प्रतिबिम्ब यदि जनता पर पड़े तो क्या आश्चर्य्य है!

वास्तव में देखा जाय तो इसी स्थान पर आकर "यथा राजा तथा प्रजा" का सिद्धान्त सत्य होता है। और इसी स्थान पर "राजा ईश्वर का अंश है" इस कथन की प्रामाणिकता मिलती है।

हमने संक्षिप्त रूप में सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्य-शासन का कुछ वृत्तान्त ऊपर लिखने की कोशिश की है। जितने विभागों के शासन पर हमने प्रकाश डाला है, उनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे विभाग ऐसे हैं जिनका हम वर्णन भी न कर सके। इन सब विभागों का पूरा वृत्तान्त जानने के लिए कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

चन्द्रगुप्त के शासन का इतना संक्षिप्त वृत्तान्त पढ़ने से भी यह साफ़ स्पष्ट हो जाता है कि वह बड़ा ही कर्मण्य और उद्योगी पुरुष था। इतनी हीन अवस्था से क्रमशः ऊँचे उठते २ उसने अन्त में अधिकांश भारतवर्ष में एकच्छत्री साम्राज्य की नींव डाल दी, और नींव भी क्षणस्थायी नहीं; प्रत्युत इतनी मज़बूत कि जो उसके बाद भी कई पीढ़ियों तक न हिली। अपने ही बाहुबल से उसने संसार-विजेता वीर सिकन्दर के जीते हुए प्रान्तों को पुनः हस्तगत किया, अपने ही बाहुबल से उसने सिकन्दर के वीर सेनापति सेल्यूकस को पराजित कर उसकी कन्या से विवाह किया। और अपने ही बाहुबल के प्रताप से उसने सारे भारतवर्ष के छोटे २ राज्यों को एक सूत्र में बाँध दिया। इतने बड़े साम्राज्य का सम्राट् होते हुए भी उसकी शासन-प्रणाली कितनी सुन्दर और सुव्यवस्थित थी। सचमुच उसका अध्ययन करते २ दांतों के नीचे उंगली दबाना पड़ती है। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी, देश अन्न और धन से परिपूर्ण था। धर्म और

नीति की सत्ता अटल थी। उसके शासनकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी प्रचलित था। बाहर के विदेशी व्यापारियों के साथ यहां पर बड़ाही प्रेम पूर्ण व्यवहार होता था। उन को राज्य की ओर से बहुत सम्मान मिलता था। उनकी सेवा शुश्रूपा की भी सुन्दर आयोजना थी।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में शायद दक्षिण भारत और मद्रास प्रान्त सम्मिलित न थे। कहा जाता है कि, उसके बाद राजा बिन्दुसार ने उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाया। और सम्राट् अशोक के समय में सारा भारतवर्ष एक सूत्र में बँध गया। सम्भव है यह बात सच हो, और मद्रास आदि प्रान्त सम्राट् चन्द्रगुप्त की सत्ता के बाहर भी रहे हों, तो भी चौबीस वर्ष के अल्पकाल में उसने अपनी सीमा को इतना अधिक बढ़ा लिया यही क्या कम है। भारतवर्ष में एकच्छत्री साम्राज्य की स्थापना करने का एक मात्र श्रेय चन्द्रगुप्त को है।

इस प्रकार भारत की इस पवित्र भूमि पर २४ वर्ष तक राज्य कर उसकी सारी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत कर भारत गगन का यह जाज्वल्यमान नक्षत्र (ईस्वी सन् से २९७ वर्ष पूर्व) अपने पुत्र बिन्दुसार (अमित्रघात) के हाथ में सारी राज्यसत्ता सौंप कर हमेशा के लिए अस्त हो गया।

चन्द्रगुप्त का जीवन निराशावाद के सिद्धान्तों को उलाहना देता हुआ हम लोगों को बतला रहा है कि, मनुष्य संसार में आकर सब कुछ कर सकता है बशर्ते कि वह कर्मशील हो। एक साधारण से साधारण मनुष्य भी उत्साह, साहस और महत्वाकांक्षा की सहायता से जगद्विजयी सम्राट् हो सकता है।

चन्द्रगुप्त के पास कितनी शक्ति थी? नैपोलियन के पास कित
थी? बाबर में कितनी ताकत थी? कुछ भी नहीं, पर
लोग अपने उत्साह से, अपनी महत्त्वाकांक्षा से और अपने
से बढ़ कर इतने बड़े सम्राट् हो गये कि, जिनके नाम से
हास का भी गौरव बढ़ रहा है। वास्तव में चन्द्रगुप्त का
भारत के प्रामाणिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे
योग्य है।

सम्राट् बिन्दुसार

सम्राट् चन्द्रगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र बिन्दुसार राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुए। इनको यूनानी लेखकों ने 'अमित्रचोटिज' (आमित्रघात) लिखा है जो इनका उपनाम होना चाहिए। बिन्दुसार ने अपने शासनकाल में दक्षिण प्रांत को जीत कर अपने पिता के साम्राज्य में मिला दिया। इसके सिवा उन्होंने कोई भी कार्य्य ऐसा नहीं किया जिससे उनका गौरव बढ़ता हो। और यही कारण है कि मौर्य्य साम्राज्य के इतिहास में चन्द्रगुप्त और अशोक की श्रेणी में बिन्दुसार का नाम नहीं लि...

फिर भी यदि उपरोक्त बात सत्य हो, यदि बिन्दुसार ने ही दक्षिण प्रान्त विजय किया हो तो यह एक ही बात उनकी गौरववृद्धि के लिये बहुत है। क्योंकि, उस समय तक दक्षिण प्रान्त पर आर्य्य लोगों का पूर्णाधिकार नहीं हुआ था। पर बहुत से ऐतिहासिकों की यह भी राय है कि, दक्षिण प्रान्त को चन्द्रगुप्त ने ही अपने साम्राज्य में मिला लिया था। यदि यह बात सत्य हो तब तो बिन्दुसार के जीवन में एक भी बात ऐसी नहीं रह जाती जो उनके गौरव को बढ़ानेवाली हो। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य पर बहुत ही उत्तम ढङ्ग से शासन किया। अपने पच्चीस वर्ष के शासनकाल में उन्होंने चन्द्रगुप्त के द्वारा जमाई हुई नींव को बिलकुल ढीली न होने दिया बल्कि उसे और भी मज़बूत बनाने की वे चेष्टा करते रहे। और अन्त में उन्होंने एक ऐसा वायु-मण्डल बना कर तैय्यार कर दिया, जिसके कारण भविष्य में उनके पुत्र अशोक को साम्राज्य की तरक्की करने का खूब अवसर मिला।

सम्राट् बिन्दुसार के समय में साम्राज्य की शासननीति, धार्मिक नीति और सामाजिक नीति प्रायः चन्द्रगुप्त के काल की ही तरह थी, अतः उनका पुनः विवेचन करना व्यर्थ है।

सम्राट् बिन्दुसार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

सम्राट् बिन्दुसार के समय में भारतवर्ष का व्यापारिक विकास बहुत अधिक हुआ। पश्चिमीय देशों के साथ चन्द्रगुप्त के समय में भारत का जितना व्यापारिक सम्बन्ध था, बिन्दुसार के समय में वह उससे बहुत अधिक बढ़ गया था। व्यापार के

लिए बहुत से नये २ मार्ग खुल गये थे। और दूसरे देशों के साथ आपस में दूतों का अदल बदल हुआ करता था। अर्थात् यहाँ के राजदूत दूसरे देशों की राजसभाओं में और दूसरे देशों के दूत यहाँ की राजसभा में उपस्थित रहा करते थे। मेगास्थनीज़ के चले जाने के पश्चात् सेल्यूकस नेकटार के पुत्र "एण्टीओकस" ने अपना नवीन दूत-समूह सम्राट् बिन्दुसार के राजदरबार में भेजा। उसके पश्चात् मिश्र देश के तत्कालीन राजा "टाल्मीफ़ी डोलफ़स" ने भी "डिओनी सेऊस" नामक राजदूत की प्रधानता में अपना एक दूत समूह भेजा। इससे प्रगट होता है कि उस समय भारतवर्ष का दूसरे देशों के साथ बहुत गहन सम्बन्ध था। इतना होते हुए भी इन देशों के ऊँचा श्रेणी के विद्वान् दूसरे देशों में आते जाते न थे। इस विषय में सम्राट् बिन्दुसार के शासन की एक घटना प्रसिद्ध है। एक बार सम्राट् बिन्दुसार ने यूनानी नरेश एण्टीओकस को लिखा कि आप अपने देश का एक ऊंचा दार्शनिक हमारे देश में भेज दें। उसके बदले में हम आपको बहुत सी मूल्यवान् वस्तुएँ भेंट में प्रदान करेंगे। इसके उत्तर में एण्टीओकस ने मृदु हास्य के साथ यह उत्तर दिया कि, "यूनान के तत्वज्ञानी मुद्राओं के मूल्य में नहीं बिका करते।" इस उत्तर से साफ़ ज़ाहिर होता है कि उस समय के सभ्य देश अपने विद्वानों की कितनी इज़्ज़त किया करते थे।

सम्राट् बिन्दुसार २५ वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन करके ईस्वी सन् से २७३ वर्ष पूर्व स्वर्गवासी हुए। उनके पश्चात् उनके कनिष्ट पुत्र "अशोक" राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए।

सम्राट् अशोक

भारत के राजनैतिक रङ्गमञ्च पर अब एक ऐसा प्रतिष्ठित नाम आता है जो संसार के सम्राटों की प्रथम श्रेणी में लिखने योग्य है। यह नाम केवल भारतवर्ष के ही इतिहास में नहीं, प्रत्युत सारे संसार के इतिहास में अपना एक खास स्थान रखता है। क्या राजनैतिक दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से, भारतवर्ष के इतिहास में अशोक के सदृश उन्नत चरित्रवान् दूसरा कोई भी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ लिखते हैं—

"सम्राट् अशोक की टक्कर का कोई दूसरा राजा संसार के इतिहास में नहीं हुआ। ऐतिहासिक शार्लिमेन, अकबर और सीज़र से उसकी तुलना करते हैं। परन्तु उनकी यह तुलना ठीक नहीं। शायद संसार के इतिहास में कोई दूसरा ऐसा शासक नहीं हुआ जिसने अपने शासन में ऐसे उत्तम नियमों के अनुसार कार्य्य किया हो; जैसा कि अशोक ने किया। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध संसार के महात्माओं में अद्वितीय हैं, उसी प्रकार सम्राट् अशोक भी संसार के शासकों में अनुपम हैं।"

सम्राट् अशोक का जन्म

बौद्धों के प्राचीन साहित्य में "अशोकावदान" नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ प्राय: अशोक की जीवनी से ही अधिक सम्बन्ध रखता है। इसमें अशोक के जन्म से सम्बन्ध रखनेवाली एक विचित्र घटना का उल्लेख किया गया है। इसमें लिखा है:—

"चम्पा नगरी में एक ब्राह्मण के घर पर एक सुन्दर कन्या का जन्म हुआ। एक ज्योतिषी ने उस कन्या के सब लक्षण देखकर कहा कि यह कुमारी अवश्य किसी चक्रवर्ती की माता होगी। यह सुन कर वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ, और जब वह कन्या युवती हुई तो उसे सम्राट् बिन्दुसार के पास ले गया, एवं ज्योतिषी के द्वारा कही हुई भविष्यवाणी भी उन्हें कह सुनाई। उस कन्या के अलौकिक रूप को देखते ही सम्राट् बिन्दुसार उस पर मोहित हो गये और तुरन्त ही उन्होंने उसे अपने रनवास में भेज दिया। रनवास की दूसरी रानियां इस कन्या के रूप को देख कर मन ही मन कुढ़ने लगीं। उनके मन में यह सन्देह होने लगा कि कहीं सम्राट् इस कन्या के रूप पर मोहित होकर हमारी उपेक्षा न करने लग जांय। इस आपत्ति से बचने के लिये उन्होंने एक युक्ति सोची। वे सब उस कन्या को "नापितानी" कह कर जाहिर करने लगीं और उससे उन्होंने दासी की तरह काम लेना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय के पश्चात् एक दिन सम्राट् बिन्दुसार ने उसे देखा, वे उसपर फिर दुबारा मोहित हो गये। वे उससे कहने लगे कि.

"तुम्हारी अपूर्व रूप राशि ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है, बतलाओ तुम्हारी क्या कामना है ? हम तुम्हारी सब कामनाओं को पूर्ण करेंगे" यह सुनकर उस ब्राह्मण कन्या ने लज्जा से नीचा मुँह कर लिया। राजा के दूसरी बार प्रश्न करने पर उसने कहा कि मैं तो आपको चाहती हूँ। यह सुन कर राजा ने हँस कर कहा कि तुम तो एक नापित कन्या हो और मैं भारतवर्ष का सम्राट् हूँ; भला यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इस पर ब्राह्मण कन्या ने कहा "भगवान् ! मैं नापित कन्या नहीं प्रत्युत एक ब्राह्मण कन्या हूँ। आपकी पत्नी बनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो, इसी उद्देश्य से मेरे पिता मुझे आपके सिपुर्द कर गये थे।" यह सुनते ही राजा को तत्काल पूर्व घटना की स्मृति हो आई और उन्होंने उस ब्राह्मण कन्या को पट्टरानी बना दिया। इस कन्या के गर्भ से दो पुत्रों का जन्म हुआ। पहला अशोक और दूसरा वीताशोक"।

अशोक के पहले सम्राट् बिन्दुसार के पूर्व पट्टरानी से उत्पन्न "सुसीम" नामक एक और पुत्र था। एक बार सम्राट् बिन्दुसार ने अशोक पर नाराज होकर उसे तक्षशिला के बलवाइयों को (एक बार तक्षशिला के लोगों ने बिन्दुसार के विरुद्ध बलवा किया था) दबाने के लिये भेज दिया। अशोक सेना वगैरह से सुसज्जित होकर तक्षशिला पर चढ़ गया और बिना युद्ध किये हुए उसने कौशल से उस बलवे को दबा दिया। इसके पश्चात् कितने ही दिनों तक वह तक्षशिला का राज्य प्रतिनिधि रहा। तक्षशिला के राज्य में उस समय कश्मीर, नैपाल, हिन्दुकुश पर्वत तक का सारा अफगानिस्तान, बलुचिस्तान और

पञ्जाब मिले हुए थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेदीय शिक्षा के लिए उस समय जगत् प्रसिद्ध था। अशोक ने बहुत उद्योग करके उस विश्वविद्यालय की बहुत उन्नति की। उस समय सारे भारतवर्ष के धनी मानी लोगों के लड़के और विद्या-प्रेमी लोग विद्या प्राप्त करने के लिये तक्षशिला जाते थे।

अशोक का राज्यारोहण

इधर तो अशोक के सुप्रबन्ध के कारण बिन्दुसार उस पर प्रसन्न हो रहे थे उधर साम्राज्य के प्रधान मन्त्री "शल्लाटक" बिन्दुसार के बड़े पुत्र "सुसीम" पर किसी कारण से रुष्ट हो गये। इसलिये उन्होंने सम्राट् को समझा बुझा कर सुसीम को तो तक्षशिला भिजवा दिया और अशोक को राजधानी में बुलाकर युवराज पदवी से विभूषित कर दिया। कुछ समय के पश्चात् सम्राट् बिन्दुसार स्वर्गवासी हो गये। उन के स्थान पर मंत्रियों ने तत्काल ही अशोक को सम्राट् बना दिया।

एक भ्रममूलक घटना

कुछ लोगों का कथन है कि, अशोक ने राजसिंहासन पर बैठते समय अपने निन्नानवे भाई बहनों को मरवा डाला। पर आधुनिक इतिहासकारों ने इस बात को अनेक प्रमाणों से बिलकुल गलत साबित कर दिया है। उन्होंने कई आधारों से यह सिद्ध कर दिया है कि सम्राट् अशोक के राज्य के सत्रहवें और अठारवें वर्ष में उसके भाई बहन जीवित थे तथा वह अपने परिवार के लोगों की विशेष रूप से सेवा किया करता था।

कलिङ्ग देश का युद्ध

हम पहले लिख आए हैं कि सम्राट् अशोक के समय में सारे भारतवर्ष के अन्दर बौद्ध धर्म का प्रचार था। स्वयं सम्राट् अशोक भी कट्टर बौद्धमतावलम्बी थे। उन्होंने बौद्ध मत के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किये। जिनका विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा। यहां पर इतना लिखने का मतलब यह है कि सारे भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का सर्वव्यापी प्रचार होने पर भी कलिङ्ग देश पर उसकी छाया नहीं पड़ी थी। इस प्रान्त में ऐसे विपत्तिकाल में भी सनातन धर्म अनवरत रूप से प्रचलित था। स्वयं यहां का राजा कट्टर हिन्दू धर्मावलम्बी था। सम्राट् अशोक ने वहां के राजा को साम्राज्य की अधीनता और बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए कहा, जिसका उत्तर उसने बड़ी उपेक्षा के साथ दिया। इस पर सम्राट् अशोक को बड़ा क्रोध आया, और उन्होंने तत्काल ही कलिङ्ग देश पर चढ़ाई कर दी। उस समय में कलिङ्ग देश की राजधानी सम्भवतः इन्द्रपुर थी। सम्राट् अशोक के जीवनकाल का शायद यही पहला और अन्तिम युद्ध था। चार मास तक बराबर यह युद्ध चलता रहा। इस युद्ध में सम्राट् अशोक को बड़ी २ कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उनकी सेना में महामारी फ़ैल गई जिसमें उनके हज़ारों आदमियों का संहार हो गया। हत्या राक्षसी के इन बीभत्स दृश्यों ने, मृत्यु की उस संहार कारिणी रौद्रमूर्ति ने सम्राट् के कोमल हृदय पर ऐसा प्रभाव डाला कि उस युद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने युद्ध करने के विरुद्ध शपथ ले ली। कहा जाता

है कि उस युद्ध में एक लाख मनुष्य मारे गये, डेढ़ लाख पकड़े गये। कितने ही हजार महामारी के ग्रास हुए। ज्यों त्यों कर षड्यन्त्र के द्वारा कलिङ्ग विजयी तो हो गया।(१) पर इस दृश्य से सम्राट् के हृदय में ऐसी स्थायी चोट लगी कि उसने अपनी शेष सारी आयु उसके पश्चाताप और धर्म प्रचार करने में व्यतीत की। उसी दिन से उन्होंने इस विचार को लिपिबद्ध कर लिया।

"वास्तविक विजय वह है जो मनुष्य अपने उपर धर्म बल से प्राप्त करता है। खड्ग के बल से देशों को जीतना, और विजय प्राप्त करना, राजाओं का धर्म नहीं है। यदि विवश होकर उनको युद्ध करना भी पड़े तो उस समय उन्हें धैर्य्य और सहिष्णुता से काम लेना चाहिए। क्योंकि, वास्तविक विजय वही है जो धैर्य्य और धर्म से की जाती है।"

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी

कलिङ्ग विजय के पश्चात् पाटलिपुत्र में एक बड़ी सभा की गई। जिसमें साम्राज्य के अधीनस्थ सभी राजा सम्मिलित हुए थे। उस सभा में सब सदस्यों ने मिल कर सम्राट् अशोक को "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी" इस उपाधि से विभूषित किया। इसके पश्चात् सम्राट् अशोक का सारा जीवन प्रायः धर्म प्रचार करने में ही व्यतीत हुआ।

---

(१) कई लोगों का अनुमान यह भी है कि कलिंग युद्ध के पश्चात् ही अशोक को जीवदया उत्पन्न हुई। और तभी से उसने भिक्षुओं की [illegible] से बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

सम्राट अशोक के विवाह

सम्राट् अशोक के कई विवाह हुए थे। पर उन सब में दो रानियां प्रधान थी। पहली "चारुवाकी" और दूसरी "असंधिमित्रा"। इनमें से चारुवाकी बहुत धर्मात्मा थी। अशोक की आज्ञाओं में कई स्थानों पर उसकी उदारता तथा दान पुण्य का वर्णन है। अशोक की वृद्धावस्था में उसकी दूसरी रानी असंधिमित्रा का देहान्त हो गया। उसके स्थान पर सम्राट् ने वृद्धावस्था में ही एक षोड़शी से विवाह किया। सम्राट् की यह नूतन पत्नी बहुत ही विषयासक्त और चरित्रहीना थी। वह सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र "कुनाल" पर आसक्त हो गई। और अवसर पाकर उसने राजपुत्र से प्रणय याचना भी कर दी। पर कुनाल बड़ा धर्मात्मा और नीतिज्ञ था। उसने बहुत ही नम्र शब्दों में उसकी याचना को वापस कर दिया। इस अपमान के कारण वह कुचली हुई जहरीली नागिन की तरह क्रोधित हो उठी, और कई षड्यन्त्रों द्वारा उसने तक्षशिला में कुनाल की आंखें निकलवा ने का यत्न किया, परन्तु शायद वह सफल न हुआ हो। यह घटना जब सम्राट् को मालूम हुई तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और नूतन रानी को तत्काल ही जीते जी आग में जलाने की उन्होंने आज्ञा दे दी।

इस घटना को कई इतिहासज्ञ सम्राट् अशोक के जीवन में कलङ्क के तुल्य समझते हैं। और यदि इस पर ध्यान पूर्वक गौर किया जाय तो यह घटना उतनी भयंकर नहीं ठहरती। यदि उस समय दया करके उस राक्षसी को छोड़ दिया जाता तो भविष्य

में वह कितने अनर्थ करती और उन अनर्थों का क्या परिणाम होता यह कौन कह सकता है ?

सम्राट् अशोक का शासन विभाग

हम पहले लिख आए हैं कि सम्राट् अशोक का जीवन प्राय: धर्म-प्रचार में ही अधिक व्यतीत हुआ। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके समय की शासन नीति कमजोर थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त और विन्दुसार की नीति के आधार पर सम्राट् अशोक ने अपनी नीति बनाई थी। दीवानी और फौजदारी की अदालतें भी उसी प्रकार चलती थीं। दण्डविधान भी उतना ही कड़ा था। बल्कि उसमें एक और विशेषता उन्होंने कर दी थी। कहा जाता है कि, सम्राट् अशोक ने सब राजाओं की सलाह से एक कृत्रिम नरक की स्थापना की थी। नरक की जो कल्पनाएँ शास्त्रों में अङ्कित हैं, वे सब उसमें बनाई गई थीं। जैसे गरम तैल के कढ़ाव में अपराधी को डाल देना, करौंती से अपराधी का शिरच्छेद करना आदि। इस नरक में वे ही अपराधी लाये जाते थे जिन्होंने हत्या व्यभिचार आदि की तरह और भी कोई भयङ्कर अपराध किये हों।

अवश्य सम्राट् अशोक के समान नृपतियों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था कलङ्क स्वरूप थी। इस व्यवस्था के कारण कई निरपराधों को भी प्राणों से हाथ धोने पड़ते थे। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। पर ज्यों ही इसकी भयङ्करता सम्राट् को मालूम हुई त्यों ही वह नरक-स्थान तोड़ दिया गया।

सम्राट् अशोक ने अपने तमाम कर्मचारियों, अफ़सरों और जिले के मजिस्ट्रेटों का एक प्रधान कर्तव्य यह ठहराया था कि, वे अपने दौरों में कभी २ भिन्न २ स्थानों पर सभाएँ करके जनता को धर्म्म, नीति और चरित्र की शिक्षा दें। उन्हें हमेशा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये कि जिससे जनता के अपराधों की संख्या न बढ़े। एक नीति शास्ताओं का दल भी उसने इस लिए नियुक्त किया था कि वह विशेष रूप से जीवों की रक्षा के लिए कानून बनावे और गुरुजनों के सम्मान और पूजन के लिए जो व्यवस्था राज्य की ओर से दी गई है उसका पालन यत्नपूर्वक जनता से करवावे। इस दल के अफसरों को यह आज्ञा दी थी कि सभी लोगों और सभी सम्प्रदायों पर यहां तक कि राज-परिवार पर भी वह दृष्टि रक्खे।

इससे मालूम होता है कि अशोक ने अपराधों की संख्या घटाने के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया था। और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह अपने प्रयत्नों में सफलीभूत भी हुआ। अशोक के शासन में अपराधों की संख्या बहुत घट गई थी।

उसकी शासननीति की सफलता का एक सुदृढ़ प्रमाण यह भी है कि उसके इकतालीस वर्ष के विस्तीर्ण काल में साम्राज्य के अन्दर कहीं भी कोई बलवा या विद्रोह नहीं हुआ। इतने बड़े विशाल साम्राज्य का इतने दीर्घ काल तक बिना किसी विद्रोह के रहना इस बात को प्रमाणित करता है कि उसकी शासननीति बहुत ही उत्तम थी। और उसके शासन में प्रजा बहुत सुखी और समृद्ध थी।

आयुर्वेदीय विभाग

चन्द्रगुप्त के समय के औषधालय-विभाग की प्रशंसा हम हले कर आए हैं। पर सम्राट् अशोक ने इस विभाग में ससे भी बहुत अधिक उदारता दिखलाई। सम्राट् चन्द्रगुप्त । अपने साम्राज्य के ही अन्दर औषधालयों का आयोजन कया था। पर अशोक ने न केवल अपने साम्राज्य में ही प्रत्युत क्षिण भारत और यूनानी एशिया के प्रान्तों में भी औषधालय खुलवाये थे। सारे संसार के इतिहास में शायद यही पहला म्राट् था जिसने इतनी उदारता का परिचय दिया।

पथिकों के विभाग का प्रबन्ध

सम्राट् अशोक के समय में स्थान २ पर सड़कों का व्यवस्थित बन्ध था। सड़कों पर बड़े २ पीपल के वृक्ष, आमों की ाड़ियां, और कई प्रकार के ऐसे वृक्ष लगाये जाते थे जिनकी शाल छाया सड़कों पर पड़ती रहे। जिसके कारण पथिकों ो मार्ग में कष्ट न हो। प्रति माइल पर कुएं भी खुदवाये ाते थे। धर्म्मशालाएँ और सराएँ भी स्थान २ पर बनवाई ाती थीं।

ललित कलाओं की उन्नति

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथ अशोक के समय की लित कलाओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "अशोक समय में भारत की ललित कलाओं ने उन्नति की चरम सीमा ी थी। राजकीय इञ्जिनियर और स्थपित पत्थर, ईंट और

लकड़ी के अत्यन्त विशाल और महत्तायुक्त भवन निर्माण करते थे। इनमें भिन्न भिन्न और उचित अवसरों पर पानी के आने और जाने के लिए द्वार बने हुए रहते थे। वे कठिन से कठिन चट्टानों को बहुत ही सुन्दर, सीधे और बड़े २ स्थम्भ बनाकर एवं सुसज्जित कमरे खोद देते थे। आलेख्यवस्तु विद्या का एक आवश्यक अङ्ग समझा जाता था। तमाम महत्त्वपूर्ण इमारतों में आलेख्य और चित्र बड़ी कारीगरी से बनाए जाते थे।"

वास्तव में सम्राट् अशोक संसार के उन सम्राटों में से एक थे जिन्होंने बड़े २ विशाल भवनों का निर्म्माण करवाया। गुप्त साम्राज्य के द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान आया था तब सम्राट् अशोक का विशाल राजप्रासाद मौजूद था। उसे देख कर चीनी यात्री दङ्ग रह गया। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि, "यह राजभवन इतना विशाल था और उसके अन्दर मीनाकारी और पत्थर का ऐसा आश्चर्यजनक काम हो रहा था कि उसे देख कर कोई भी मनुष्य उसको मनुष्य निर्मित नहीं कह सकता। वास्तव में ये प्रासाद देवनिर्मित मालूम होते हैं।" राजप्रासादों की ही तरह अशोक ने बहुत से विशाल बौद्ध मन्दिर और बिहार भी बनाए थे। ये मन्दिर भी उस समय की वस्तुविद्या की उच्चता को प्रकट करते हैं। अशोक के समय के बहुत से ऐसे पाषाण के स्थम्भ मिले हैं, जिनकी ऊँचाई लगभग पचास-फीट और वज़न करीब पचास टन है। उनकी पालिश इतनी सुन्दर है कि अब तक वह नहीं मिटी और आधुनिक इञ्जिनियर लोग भी यह नहीं बतला सकते कि वह पालिश किस प्रकार की

जाती थी। इसी प्रकार सारनाथ के अशोक के सिंहाकृति वाले सिरों को जिन्होंने देखा है, वे उस समय की कारीगरी की उत्तमता का अनुमान कर सकते हैं।

अब हम उस मुख्य विषय की ओर झुकते हैं जो सम्राट् अशोक के जीवन का प्रधान विषय रहा था। हम पहले ही लिख आए हैं कि सम्राट् अशोक की प्रधान रुचि धर्मप्रचार की ओर ही थी। सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व वे किस धर्म के अनुयायी थे यह विषय अभी विवादास्पद है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सम्राट् अशोक सिंहासन पर बैठने के पूर्व जैन धर्मानुयायी थे। इसका प्रमाण देते हुए वे कहते हैं कि, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैनी थे, और पुत्र का पिता और पितामह के स्वीकृत किये हुए धर्म का अनुयायी होना अधिक स्वाभाविक है। यदि उनका मत बदलता भी है तो पूर्ण अध्ययन के पश्चात्। अतएव सम्राट् अशोक का आरम्भ में जैनी होना ही अधिक उपयुक्त मालूम होता है। कुछ लोग उन्हें वेदमतावलम्बी सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं कि पहले उसकी पाकशाला में सहस्रों जीव मारे जाते थे। बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर भी दो मोर और एक हिरण उनके लिये मारा जाता था। जो कुछ भी हो पर इस बात के सत्य होने में सन्देह नहीं हो सकता कि सम्राट् अशोक अपने पूर्व काल में बुद्धानुयायी नहीं थे। इसका एक प्रमाण यह भी हो सकता है कि उस समय तक बौद्ध धर्म भारतवर्ष में भले प्रकार प्रतिष्ठित भी नहीं हो सका था। यद्यपि बौद्ध और जैनी प्रचारकों ने लोगों के हृदय में हिन्दूधर्म

के विरुद्ध बहुत से भाव फैला दिये थे तथापि जनता के हृदय में अभी तक इन नवीन धर्मों की जड़ मजबूती से नहीं जमने पाई थी। वास्तव में सम्राट् अशोक के बुद्धधर्मानुयायी हुए पश्चात ही बौद्धधर्म की अधिक उन्नति हुई। ज्योंही उन्होंने बौद्ध मत स्वीकार किया त्यों ही तन, मन, धन से उन्होंने इस धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप कुछ ही समय में पश्चिमी एशिया के कुछ भाग को छोड़ कर सारे एशिया में इस धर्म का प्रचार हो गया। सिंहासन पर आरूढ़ होते ही सम्राट् ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और उसके पश्चात् करीब ढाई वर्ष तक वे स्वयं भिक्षुक के वेश में रहे। उन्होंने स्थान २ पर प्रचारकों को भेज कर बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। उन्होंने न केवल भारत में वरन् पश्चिमी देशों में भी प्रचारक भेजे। एक प्रसिद्ध इतिहास लेखक लिखते हैं कि "सम्राट् अशोक संसार में पहले शासक थे, जिन्होंने अपनी राजकीय सम्पत्ति को धर्मप्रचार में लगाया और जिसने इस धर्मप्रचार से अपने लिए, अपने उत्तराधिकारियों के लिये और अपनी जाति के लिये किसी प्रकार के लाभ की इच्छा न रक्खी। सारे संसार के इतिहास में धर्म प्रचार का यह उदाहरण अद्वितीय और अनुपम है। दूसरे धर्मों में धर्म प्रचार के साथ २ देशों को जीता गया, दूसरे धर्म के मन्दिरों को गिराया गया, लूटपाट मचाई गई, जैसा कि अब भी लोगों का विश्वास है कि, अञ्जील का प्रचार यूरोपीय जातियों की सेना का अग्रगामी होता है। कई इतिहासज्ञ अशोक की तुलना ईसाई राजा कांस्टण्टाइन से करते हैं परन्तु कांस्टण्टाइन और अशोक की प्रचार

नीति में वहुत अधिक अन्तर है। न्याय यह चाहता है कि, अशोक को अपने ढङ्ग का एक अकेला ऐसा शासक समझा जाय, जिसके ढङ्ग का आज तक मनुष्य जाति ने उत्पन्न नहीं किया। कान्स्टएटाइन के समय में ईसाई धर्म वहुत फैल चुका था।"

सम्राट् अशोक ने मिश्र, शाम, सायरीन, मकद्धनिया, लङ्का और दक्षिण भारत के स्वतन्त्र राष्ट्रों में भी अपने धर्म प्रचारक भेजे थे। इसके अतिरिक्त तिव्वत, हिमालय के प्रान्त, हिन्दु-कुश के प्रान्त, कावुल की उपत्यका गान्धार और यवन देशों में भी उन्होंने वौद्ध धर्म का प्रचार किया। प्रसिद्ध इतिहास लेखक अलवेरूनी लिखता है कि, "मुसलमान धर्म के प्रारम्भ के पूर्व सारे मध्य एशिया में वौद्ध धर्म फैला हुआ था। ईरान, ईराक, रूम, अजम, शाम आदि देशों में भी वौद्धधर्म का गहरा असर पड़ रहा था।" लङ्का में वौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये स्वयं अशोक का भाई महेन्द्र गया था और उसके साथ अशोक की पुत्री संघमित्रा भी गई थी उसने वहां के तत्कालीन राजा को बौद्ध धर्म की शिक्षा दी और सारे लङ्का द्वीप में वौद्ध धर्म का प्रचार किया। तब से आजतक लङ्काद्वीप बौद्ध धर्म का उपासक है। महेन्द्र ने अपना सारा जीवन लङ्का में ही धर्म प्रचार करते हुए व्यतीत किया। आज भी लङ्का में वौद्ध लोग महेन्द्र की पूजा करते हैं। उसके स्मारक स्वरूप वहां पर एक स्तूप बनाया गया था। इस समय भी वह स्तूप लङ्का में दर्शनीय गिना जाता है। हाल ही में पुरातत्त्व वेत्ताओं के परिश्रम से लङ्का में अनुराधपुर नामक नगर के कुछ खण्डहर मिले हैं। यह अनुराधपुर संसार में वौद्ध धर्म का एक उज्ज्वल स्मारक है।

एक अङ्गरेज लेखक ने इस नगर की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि, "इसके सन्मुख रोम और यूनान तुच्छ जान पड़ते हैं"। अस्तु! सम्राट् अशोक ने पेगू—जिसे उस काल में स्वर्णभूमि कहते थे—में भी बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया था। इसके अतिरिक्त चोल, पाण्डय, करेलपुत्र और सतियपुत्र इन चार स्वतन्त्र दक्षिण प्रान्तों में भी उसने बौद्ध धर्म के अनेक विहार और मन्दिर बनवाये थे। मतलब यह है कि, बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए सम्राट् अशोक ने कोई भी बात उठा न रक्खी। यदि सम्राट् अशोक, और महाराज कनिष्क न होते तो आज भगवान् बुद्ध के बावन करोड़ अनुयायी दिखलाई पड़ते या नहीं, यह कौन कह सकता है? उस समय बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रायः सारी ज्ञात दुनिया पर पड़ रहा था। यूनानी तत्त्वज्ञान और ईसाई धर्म पर भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा।

कहा जाता है कि, अशोक ने अपने जीवनकाल में बौद्ध भिक्षुओं की एक विशाल सभा की थी। जिसमें उपगुप्ताचार्य्य आदि बौद्ध धर्म के कई महान् भिक्षुक सम्मिलित हुए थे। उनमें उत्तम और चरित्रवान् भिक्षुओं को चुन २ कर प्रचार के लिए भेजा गया था। शेष दुरङ्गे और पाखण्डी भिक्षुओं से भिक्षुक वेष छीन लिया गया था। यह बात कहां तक सत्य है इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सम्राट् अशोक का व्यक्तित्व

सम्राट् अशोक के व्यक्तित्व के विषय में कुछ लिखना सूर्य्य को दीपक दिखाना है। इतने बड़े साम्राज्य का इतना उत्तम

ढङ्ग से सञ्चालन करना ही उनके महान् व्यक्तित्व का सूचक है। वे एक अद्भुत कर्मशील, उच्च चरित्र और शान्त मनुष्य थे। उनके वचन और कर्म में आश्चर्य्यजनक एकता पाई जाती थी। उनके जितने भी शिलालेख आजकल पाए जाते हैं वे सब उनकी लेखनी के लिखे हुए हैं। उन लेखों से उनकी धार्मिकता और पवित्रता स्पष्ट ज़ाहिर होती है।

सम्राट् अशोक के सिद्धान्त

अशोक के शिलालेखों और उनकी धर्म लिपियों में उनके सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय मिलता है। उनके मुख्य सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, पवित्र जीवन, बड़ों और श्रमण ब्राह्मणों का सम्मान आदि विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। अहिंसा और जीवरक्षा तो भविष्य में जाकर अशोक के जीवन का मूलमन्त्र हो गई थी। पहले उनकी पाकशाला में प्रतिदिन लाखों जीवों की हत्या होती थी, बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् भी उनके भोजन के लिए दो मोर और एक हिरण मारे जाते थे। पर अपने शासन के सोलहवें वर्ष में उन्होंने अपनी पाकशाला में जीवहिंसा बिलकुल बन्द कर दी और उसके दो वर्ष पश्चात् शिकार खेलना भी बन्द कर दिया। शासन के २०वें वर्ष में उन्होंने अपने सारे राज्य में जीवों का वध सर्वथा बन्द करवा दिया। अहिंसा के पश्चात् सम्राट् का दूसरा सिद्धान्त 'सत्य-प्रेम' था। प्रत्येक मनुष्य का सत्यवक्ता होना उनकी दृष्टि में आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उस समय जो बौद्ध लोग दूसरे धर्मों को हेय निगाह से देखने लग गए थे, उनके लिए भी

उन्होंने एक कानून बनाया था। उस कानून के द्वारा उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य ठहराया कि, वह दूसरों के धर्म, विश्वास और उपासना की रीति में बाधक न हो। और प्रत्येक धर्म के साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करे। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि, वह दूसरे धर्म के लिए अपमान सूचक शब्दों का व्यवाहर करे। क्योंकि, सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त जीवन को पवित्रता की ओर ले जाने वाले होते हैं। अशोक का तीसरा सिद्धान्त बड़ों का सम्मान, ब्राह्मण और श्रमणों के प्रति श्रद्धा और छोटों पर दया करने का था। उनके साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का यह अनिवार्य्य कर्तव्य ठहराया गया था कि, वह अपने गुरुजनों के साथ सम्मान पूर्वक आचरण करे। यदि कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार अपने गुरुजनों का अपमान करता तो वह दण्ड का भागी होता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की ओर से आदेश था कि, वह अपने अधीनस्थ लोगों के साथ दया और अनुकम्पा का व्यवहार करे। एक धर्मलिपि में अशोक ने दान की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है कि, औषधालय मनुष्यों की शरीर-रक्षा के लिए है। एवम् मन्दिर पुण्य के लिए बनाए जाते हैं परन्तु वास्तविक दान तो धर्म का दान है जो मनुष्य को आध्यात्मिक भोजन देता है।

अशोक का साम्राज्य

अशोक के साम्राज्य का विस्तार जितना अधिक हुआ था उतना शायद ही अभीतक किसी सम्राट् के समय में हुआ हो।

उनका राज्य उत्तर में हिमालय और हिन्दूकुश पर्वत तक था। सारा अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान, और सिन्ध उनके साम्राज्यान्तर्गत था। कश्मीर, नैपाल, स्वात और बाजौर प्रान्त भी इनके साम्राज्य में मिले हुए थे। कश्मीर की राजधानी "श्रीनगर" को स्वयं सम्राट् ने ही बसाया था। नैपाल में भी उन्होंने "ललितपुर" नामक एक नवीन राजधानी बसाई थी। जोकि काटमाण्डू से दो तीन मील दक्षिण-पूर्व में है। सम्राट् की लड़की चारुमती ने भी नैपाल में अपने पति देवपाल के स्मारक स्वरूप देवपाटन नामक एक नगर बसाया था। यह तो साम्राज्य की उत्तर सीमा हुई। पूर्व में सारा बङ्गाल, अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। दक्षिण में कलिङ्ग, आन्ध्र और पूर्वी किनारे का सारा दक्षिण प्रान्त अशोक के आधीन था। केवल चोल पाण्डय, केरल पुत्र और सतियपुत्र अशोक साम्राज्य से बाहर थे। इस सारे साम्राज्य को अशोक ने कई भागों में विभक्त कर दिया था। इनमें भिन्न २ भागों में एक एक राजप्रतिनिधि राज्य करता था। एक राजप्रतिनिधि तक्षशिला में, दूसरा कलिङ्ग के अन्तर्गत तोसली में, तीसरा उज्जैन में और चौथा दक्षिण देश में रहता था। इन प्रतिनिधियों में राज्य घराने के अथवा सम्राट् के पूर्ण विश्वास पात्र लोग ही रहा करते थे।

सम्राट् अशोक की तीर्थयात्रा

ईसा से २४९ वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने तमाम बौद्ध तीर्थों की यात्रा करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले वे मुजफ्फरपुर

का क्या कर्तव्य है, यह तो बतलाया गया है। पर प्रजा का राजा के प्रति क्या कर्तव्य है, अथवा प्रजा को किस प्रकार राजभक्त बना रहना चाहिए, इन बातोंका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस से स्पष्ट जाहिर होता है कि, सम्राट् अशोक का शासन इतना उदार, इतना नम्र, और इतना न्याययुक्त था कि जिसके कारण प्रजा स्वयं ही दृढ़ राजभक्त बनी रहती थी। उसे राज-भक्ति के उपदेश की आवश्यकता ही न थी।

इस प्रकार अपने ४१ वर्ष के शासन से भारत को समृद्ध कर मौर्य्यवंश का यह जाज्वल्यमान सूर्य्य ईस्वी सन् से २३२ वर्ष पूर्व भारत-गगन से अस्त हो गया। सम्राट् अशोक के पश्चात् भारतवर्ष की वही दशा हुई जो सेनापति की मृत्यु के पश्चात् सारी सेना की हो जाती है। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके वंशजों में कोई भी व्यक्ति ऐसा प्रतिभासम्पन्न न निकला जो उनके साम्राज्य का योग्यतापूर्वक शासन कर सके। योग्य शासक के अभाव में देश की राजनैतिक स्थिति फिर डांवाडोल होने लगी। और अन्त में सारे साम्राज्य के अन्दर एक क्रान्ति सी उत्पन्न हो गई। आगे जाकर इस विशाल साम्राज्य का किस प्रकार तीन तेरह हुआ उसका विवेचन अगले पृष्ठों पर अङ्कित है।

यद्यपि इस में सन्देह नहीं है कि, सम्राट् चन्द्रगुप्त की तरह सम्राट् अशोक को नवीन साम्राज्य का संगठन न करना पड़ा। लेकिन इससे हम अशोक को चन्द्रगुप्त की तुलना में हीन नहीं कह सकते उनके अन्दर बहुतसे गुण ऐसे थे जो सम्राट् चन्द्रगुप्त में भी नहीं पाये जाते थे। उनका चरित्र बहुत दिव्य था। वे पहले सिरे के विद्वान् थे। इतने बड़े साम्राज्य के अधिपति

होते हुए भी अभिमान ने उन्हें छुवा तक न था। जितनी आज्ञाएं वे प्रजा के लिए निकालते थे, उन्हें स्वयं भी पालन करने की चेष्टा करते थे। जनता के चरित्र को सुधारने का, और सर्व साधारण में धर्म प्रचार का उन्होंने जो प्रयत्न किया, वह संसार के इतिहास में दुर्लभ है। यही कारण था कि, ४१ वर्ष के लम्बे शासन में इतने विशाल साम्राज्य के अन्दर एक भी विद्रोह और बलवा खड़ा न हुआ, उनके शासन में हमेशा एक जीवित शान्ति बनी रही, जो कि, अच्छे से अच्छे प्रजातंत्र में भी सम्भव नहीं है। कुछ लोग उनके दण्ड-विधान पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि, इस प्रकार का दण्ड-विधान किसी भी सभ्य देश के लिए कलङ्क स्वरूप है। सम्भव है उनका यह कथन सच हो, और यह दुर्गुण अशोक और चन्द्रगुप्त में रहा हो, पर फिर भी उनके इतने गुणों में यह दुर्गुण उसी प्रकार छिप जाता है, जिस प्रकार सूर्य्य के प्रकाश में तारे। अस्तु! मतलब यह है कि, हमारे सारे इतिहास में अशोक का काल एक अभिमान की वस्तु है। उनके समान सम्राट् संसार के किसी देश ने अभीतक पैदा नहीं किया।

अशोक की धर्म-लिपियाँ

यद्यपि पहले अध्याय में हम स्थान २ पर अशोक की धर्मलिपियों का विवेचन करते आये हैं तथापि बहुत से पाठक ऐसे भी होते हैं जिन्हें उनके मौलिक अनुवाद की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऐसे पाठकों के हितार्थ हम नीचे उन सब धर्म लिपियों का अनुवाद दे देना उचित समझते हैं।

(१)

यह धर्मलिपि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की आज्ञा से खुदवाई गई है। इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु को बलिदान अथवा भोजन के लिए न मारे अथवा किसी प्रकार का समाज * न करे। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ऐसे समाजों में अनेक प्रकार के दोष देखते हैं। यद्यपि कुछ समाज ऐसे भी हैं जो देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् को अच्छे मालूम होते हैं। पहले देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् की पाकशाला में व्यञ्जन बनाने के निमित्त हज़ारों पशुओं का वध हुआ करता था। पर आज से उनकी पाकशाला में केवल दो मोर और एक हिरण का वध होगा। जिसमें भी हिरण का वध नियमित नहीं है। भविष्य में ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जाएंगे।

(२)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् के साम्राज्य में सर्वत्र, और उनके सीमा प्रदेश में रहनेवाली जातियों (जैसे चोल, पाण्डय, सतिय पुत्र, केरल पुत्र आदि) के राज्य में ताम्रपर्णी (लङ्का) तक तथा यूनानियों के राजा एण्टी ओकस के राज्य में, और उसके पार्श्ववर्त्ती दूसरे राज्यों में सर्वत्र देव प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया है—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। जिन २ स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के

---

* साधारणतया समाज शब्द का अर्थ एकत्र होकर धूमधाम सहित आमोद प्रमोद करने के लिए लिया जाता है। पूर्व काल में ऐसे समाजो के अन्दर सुरापान और मांस भक्षण हुआ करता था। अशोक ने इस रीति को बन्द किया।

उपयोग में आनेवाली औषधियों के पौधे नहीं हैं, उन २ स्थानों पर वे बाहर से लाये और लगाये गये हैं। प्रत्येक पथ पर मनुष्यों और पशुओं के लिए कुएं खुदवाये गये हैं, और वृक्ष लगवाये गये हैं।

(३)

देव प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहते हैं:—राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार के आदेश किये हैं मेरे राज्य में सर्वत्र धर्म्मयुत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी पाँच वर्ष में एक बार एक सभा में एकत्रित हों और इस प्रकार की धर्म शिक्षाओं का प्रचार करें:—

"अपने माता, पिता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है। ब्राह्मणों और श्रमणों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना और अपव्यय तथा कटु वचन से बचना, अच्छा और उचित है। बौद्ध संघ इस प्रकार के धर्मयुतों को नियुक्त करेगा और उन पर निगाह रक्खेगा।

सुदूर अतीत काल से यहां पर प्राणियों का नाश—जीवों के प्रति निष्ठुर व्यवहार—सम्बन्धियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों के प्रति अनादर भाव चले आ रहे हैं। आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजाने—जोकि, देवताओं के प्रिय और धर्मकार्य्य के बड़े भक्त हैं।—ढिंढोरा पिटवा कर नाच, लश्कर, हाथी, मशाल, और स्वर्गीय वस्तुओं को प्रजा को दिखला कर धर्म को प्रकट किया है। जैसा सैकड़ों वर्षों पहले कभी नहीं हुआ था वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से होता है। आज

जीवधारी पशुओं का सत्कार, उनके लिए दया, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, और श्रमणों के लिए सत्कार, मातापिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन, और वृद्धों का यथोचित आदर होता है। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी धर्म्म का विचार किया गया है। और देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी इसको बराबर प्रचलित रक्खेगा। देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इस धर्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक कायम रक्खेंगे। धर्म और भलाई में दृढ़ रह कर वे लोग धर्म्म की शिक्षा देंगे। क्योंकि धर्म्म की शिक्षा देना सब कार्यों से उत्कृष्ट है। और भलाई के बिना कोई धर्म का कार्य्य नहीं होगा। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस शिलालेख को खुदवाने का प्रधान उद्देश्य यह है कि, वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कामों में लगावें। और इसकी अवनति न होने दें। राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् ने इसे खुदवाया है।

(५)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं कि, पुण्य करना बहुत कठिन है। जो पुण्य करते हैं वे कठिन कार्य्य करते हैं। अभी तक मैंने स्वयं बहुत से पुण्य कार्य्य किये हैं। मेरे पुत्र, पौत्र, और कल्पान्त तक के सब वंशधर मेरी ही तरह पुण्य कार्य्य करेंगे। और जो सुकृत कार्य्य के करने में किंचित् मात्र भी प्रमाद करेगा, वह पाप का भागी होगा। क्योंकि पाप करना बहुत आसान है। देखो अतीत काल में धर्म्म का प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारी न थे, परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के तेर-

हवें वर्ष में धर्म का प्रबन्ध करनेवाले कर्म्मचारी नियुक्त किये हैं। ये लोग सब सम्प्रदाय के लोगों से धर्म का स्थापन और उत्कर्ष करने के लिए और धर्म्मयुतों की भलाई करने के लिए मिलते हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र, पेतेनिक और सीमा प्रदेश की अन्य जातियों के साथ मिलते हैं, वे योद्धाओं और ब्राह्मणों के साथ, गरीब अमीर और वृद्धों के साथ, उनकी भलाई और सुख के लिये, और सत्य धर्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिए मिलते हैं। जो लोग बन्धनों में हैं उन्हें वे सुख देते हैं। और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं। क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में, वे मेरे भाई बहनों तथा अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सब स्थानों पर धर्म्म महामात्र लोग सच्चे धर्मानुयायियों, दान करने वालों और धर्म में दृढ़ लोगों से मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह लिपि खुदवाई गई है।

(६)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—प्राचीन काल में हर समय में राजकार्य्य, मनोनिवेश और गुप्तचरों के समाचारों को सुनने की प्रथा न थी। मैंने इस प्रकार का नियम कर दिया है कि, चाहे जिस समय में—खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकान्त में अथवा वाटिका में—वे कर्मचारी लोग जिनके ऊपर प्रजा विषयक कार्य्यों का भार है मुझ से मिल सकते हैं। मैं अपनी प्रजा के सम्बन्ध की सब बातें उन से जान लेता हूँ। मेरी कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्म महामात्र

लोग प्रजा से कहते हैं। इस प्रकार मैंने यह आज्ञा दी है कि, जहां कहीं धर्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद अथवा झगड़ा हो, उसकी सूचना मुझे सदा मिल जाना चाहिए। क्योंकि, न्याय के प्रबन्ध में जितना उद्योग किया जाय कम है। मेरा यह कर्त्तव्य है कि शिक्षा द्वारा लोगों का उपकार करूं। निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबन्ध सर्व साधारण के हित की जड़ है। और इस से अधिक फलदायक कुछ नहीं है। मेरे सब यत्नों का मुख्य उद्देश्य है कि, मैं सर्व साधारण के ऋण से मुक्त हो जाउं। जहां तक मुझ से हो सकता है मैं उन्हें सुखी रखने का प्रयत्न करता हूँ। और इस बात का भी प्रयत्न करता हूँ कि, भविष्य में भी स्वर्गसुख प्राप्त करें। भविष्य में मेरे पुत्र और पौत्र भी सर्व साधारण के हित में रत रहें। इसी उद्देश्य से मैंने यह लिपि खुदवाई है।

(७)

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी की यह बड़ी इच्छा है कि, सब स्थानों में सब जातियां सुखी रहें। सब लोग समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें। और आत्मा को पवित्र बनावें। मनुष्य संसार की बातों में अधीर है। संसारचक्र के कारण वह जितनी बातें कहता है उतनी कर नहीं सकता। फिर भी आंशिक रूप से उसे कर्त्तव्य पालन में रत रहना चाहिए। दान एक श्रेष्ठ धर्म्म है। लेकिन जो लोग आर्थिक हीनता के कारण दान नहीं कर सकते उन्हें संयम, चित्त शुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़ चिन्तना आदि गुणों का एकान्त पालन करना चाहिए।

(८)

प्राचीन समय के राजा लोग अहेरिया के लिए जाया करते थे। अपना जी बहलाने के लिए वे जानवरों का शिकार तथा अन्य इसी प्रकार के खेल किया करते थे। मैं देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् अपने राज्य के दशवें वर्ष से इस प्रकार मनोरंजन को बन्द करता हूँ। अब मुझे सत्यज्ञान प्राप्त हो गया है। आज से ब्राह्मणों और श्रमणों की भेंट करना उनको दान देना, वृद्धों से परामर्श करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना, प्रजाजनों को धार्मिक शिक्षा देना आदि कार्य्य ही मेरे मनोरञ्जन की सामग्री होगी। इस प्रकार देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अपने भले कामों से उत्पन्न हुए सुखों को भोगता है।

(९)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—लोग बीमारी में, पुत्र कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर, और यात्रा में जाने के समय अथवा इसी प्रकार के अन्यान्य अवसरों पर भिन्न २ प्रकार के विधान करते हैं। परन्तु भिन्न २ प्रकार के ये असंख्य विधान जिन्हें कि लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। इन विधानों का कोई फल नहीं होता, जो लोग इन विधानों को छोड़ कर इन के विपरीत धर्म्मकार्य्य करता है, वह बहुत ही श्रेष्ठ है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना और सम्बन्धियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। इन कामों को तथा इसी प्रकार के अन्य भलाई के कामों को ही मैं धर्म्मकार्य्य कहता हूं। पिता, पुत्र, भाई

अथवा स्वामी को कहना चाहिए कि, ये ही कार्य्य प्रशंसनीय है। जहां तक अभीष्ट सिद्धि न हो जाय तब तक इन सब कार्य्यों को करना उचित है। यह कहा जाता है कि, दान देना प्रशंसनीय कार्य्य है, पर और दान इतने प्रशंसनीय नहीं है जितना कि, धर्म्मदान। इस लिये मित्र, सम्बन्धी, और सङ्गी को यह सम्मति देना चाहिए कि, अमुक २ अवस्थाओं में अमुक २ कार्य्य प्रशंसनीय है। यज्ञ में विश्वास रखना चाहिए कि, इस प्रकार के आचरण से स्वर्ग मिलता है।

(१०)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् इस के अतिरिक्त और किसी प्रकार की कीर्त्ति अथवा यश को पूर्ण नहीं समझता कि, उसकी प्रजा वर्त्तमान में अथवा भविष्य में उसके धर्म्म को माने और उसके अनुसार कार्य्य करे। इसी एक मात्र यश को देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् चाहता है। प्रियदर्शी सम्राट् के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलनेवाले सुखों तथा जीवन मरण के बन्धनों से मुक्त होने के लिए हैं। क्योंकि जीवन मरण का दुख ही सब से बड़ा दुःख है। लेकिन इस दुःख से छुटकारा पाना छोटे और बड़े दोनों ही के लिए कठिन है। तब तक कठिन है जब तक कि, वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने का दृढ़ उद्योग न करेंगे। खास कर बड़े लोगों के लिए इसका उद्योग करना बड़ा ही कठिन है।

(११)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—धर्म्म की मित्रता के समान मित्रता, धर्म्म की भिक्षा के समान भिक्षा,

धर्म्म के सम्बन्ध के समान सम्बन्ध और धर्म्म के दान के बराबर दान दुनिया में कोई नहीं है। इसलिए क्रीत दास और साधारण भृत्यों के प्रति सदय व्यवहार, माता पिता की शुश्रूषा, मित्र, परिचित और जाति का सम्मान, ब्राह्मण और श्रमण लोगों को दान, प्राणियों के प्रति अहिंसाभाव, आदि सत्कार्य्यों को सम्पन्न करते रहना चाहिए। सुतरां पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र, परिचित और जाति के लोगों को यह उपदेश देते रहना चाहिए कि, ये कार्य्य सत्कार्य्य हैं—ये मनुष्य के कर्तव्य हैं। जो लोग हमेशा इस प्रकार का आचरण अथवा धर्म्मदान किया करते हैं वे इस लोक में पूजित एवं परलोक में अनन्य सुख भोगी होते हैं।

(१२)

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् सब धर्म के लोगों का—क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ—उचित सत्कार करता है। वह उन्हें भिक्षा और दूसरे प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है। लेकिन प्रियदर्शी सम्राट् इस प्रकार के दानों को उनके धर्माचरणों की उन्नति के सम्मुख कुछ भी नहीं समझता। यद्यपि यह सत्य है कि, भिन्न २ धर्मों में भिन्न २ प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं तथापि उन सब का आधार एक ही है। वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शान्ति होना है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह कभी अपने धर्म की व्यर्थ प्रशंसा और दूसरों के धर्म की निन्दा न करे। किसी भी व्यक्ति का यह कर्तव्य नहीं है कि वह दूसरों के धर्म को बिना कारण हलका समझे। इसके विपरीत सब लोगों का यह कर्त्तव्य होना चाहिए

कि दूसरे धर्मों का भी सब अवसरों पर उचित सत्कार करें। इस प्रकार का यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने धर्म की उन्नति कर सकता है। इसके विरुद्ध कार्य्य करने से मनुष्य न तो अपनी ही भलाई कर सकता है न दूसरों की ही। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने धर्म की वृद्धि करने के लिए दूसरे धर्मों की निन्दा करता है वह अपने ही हाथों अपने धर्म्म पर कुठाराघात करता है। सहयोग ही सब से उत्तम वस्तु है। इसी के कारण सब लोग एक दूसरे के मतों को सहन करते हुए प्रेम-पूर्वक समाज में रह सकते हैं। देवताओं के प्रियदर्शी की यह इच्छा है कि सब लोगों को इस ढङ्ग की शिक्षा दी जाय जिससे कि, उनके सिद्धान्त शुद्ध हों। सब धर्म के लोगों को यह बतला देना चाहिए कि देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् दान और बाहरी विधानों की अपेक्षा वास्तविक धर्माचरण की उन्नति और सब धर्मों के पारस्परिक प्रेम को अधिक महत्व देता है। इसी उद्देश्य से धर्म का प्रबंध करने वाले कर्म्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्मचारी लोग काम करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म की उन्नति और धार्मिक दृष्टि से उसका प्रचार है।

(१३)

कलिंग देश जिसे देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक ने अभिषेक के आठवें वर्ष में जीता है, बहुत विशाल है। इस विजय में डेढ़ लाख व्यक्ति बन्दी बनाए गये हैं, एक लाख आहत हुए हैं तथा इससे कितने ही अधिक मारे गये हैं। इतनी हत्याओं के उपरान्त कलिङ्ग देश विजय हुआ है। इसी क्षण से देव प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् का धर्मपालन, धर्मानुराग और उसके धर्मा-

सुशास्ति वहुत वृद्धिगत हुई है। कलिङ्ग विजय करने पर देव प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् को बहुत पश्चात्ताप हुआ है। क्योंकि, अविजित देश को विजय करते समय हत्या, मृत्यु, और वन्दी बनाना अवश्यम्भावी होता है। देवप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् को ये हत्याएं अतिशय गुरुतर और कष्टकर मालूम होती हैं। सभी देशों में ब्राह्मण, श्रमण, संन्यासी और गृहस्थ लोग रहते हैं। देश विजय करते समय इन लोगों पर भी कठोरता होती है। उनसे उनके प्रियजनों का वियोग हो जाता है यहां तक कि उनकी मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए उन्हें घोर क्लेश उठाना पड़ता है। मैं, जो कि, देवताओं का प्रिय हूँ, इस प्रकार की कठोरताओं का अनुभव करता और उन पर पश्चात्ताप करता हूँ। कोई ऐसा देश नहीं जहां पर ब्राह्मण और श्रमण न बसते हों और कोई ऐसा स्थान नहीं जहां वे लोग किसी न किसी धर्म्म को न मानते हों। और कलिङ्ग देश के अन्तर्गत जितने लोग आहत हुए हैं, वन्दी हुए हैं, अथवा जितने लोगों ने प्राणत्याग किया है, उनके लिए देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् को बहुत अनुताप हो रहा है।

देवताओं का प्रियदर्शी सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शान्ति और दया का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसीको देवताओं का प्रियदर्शी वास्तविक धर्म-विजय समझता है। अपने साम्राज्य तथा उसके सीमावर्त्ती प्रदेशों में इसी प्रकार की धर्म-विजय सम्राट् देखना चाहता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एण्टीओकस, एण्टीओकस के उपरान्त चार राजा लोग—टोलेमी, एण्टीगोनस, मेगसी और सिकन्दर, दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी तक चोल और पाण्ड्य लोग और सिंहलवासी

यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपन्ति लोग, भोज और पेतेनिक लोग, अन्ध्र और पुलिन्द लोग—सर्वत्र देवताओं के प्रियदर्शी की धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल है। जहां २ देवताओं के प्रियदर्शी के दूत भेजे गये, वहां २ के लोगों ने उन धार्मिक शिक्षाओं को बड़े ही चाव से सुना जो प्रियदर्शी सम्राट् की ओर से भेजी गई थीं। वे सानन्द उन धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हो गये।

इस प्रकार यह विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे इससे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है। वास्तव में धार्मिक विजय में इसी प्रकार का सुख होता है। यह आनन्द यद्यपि अलभ्य है तथापि देवताओं का प्रियदर्शी सम्राट् उस आनन्द को बहुत अधिक समझता है जो कि अगले जन्म में मिलने वाला है। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है। वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना "विजय" कहलाने के योग्य है। वे उसमें नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ भी न देखें। वे धर्म्म की विजय को छोड़ कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक और परलोक दोनों जगह मिलता है।

(१४)

ये गिरिलिपियाँ देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने खुदवाई हैं। ये कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार में और कुछ अधिक विस्तार में हैं। अभी तक ये एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं। क्योंकि मेरा राज्य बहुत विशाल है। मैंने बहुत सी

बातें खुदवाई हैं और बहुत सी अभी और खुदवाऊँगा। कुछ बातों में पुनरावृत्ति भी आगई है, क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष ज़ोर देना चाहता हूँ। प्रतिलिपि में दोष भी हो सकते हैं कि कोई कोई वाक्य कट गया हो, पर यह सब खोदनेवाले कारीगर का काम है।

उपरोक्त चौदह सूचनाएं अशोक की प्रसिद्ध धर्म्मलिपियाँ हैं, जिनके द्वारा उसने अपने साम्राज्य में उपरोक्त महत्व-पूर्ण बातों का प्रचार किया।

उपरोक्त चौदह गिरिलिपियों के अतिरिक्त अशोक ने समय २ पर अन्य सूचनाएं भी खुदवाई थीं। उनमें से एक सूचना "धौली" में दो "जोगड़" में एक खण्ड शिलालिपि सिद्धपुर में, एक सूचना सहसराम में, एक रूपनाथ में, एक बैराट् (दिल्ली के दक्षिण पश्चिम) में और तीन शिलालेख मैसूर में मिले हैं। इनके सिवा गुफाओं के शिलालेख अलग हैं। यद्यपि इन सब शिलालेखों का अनुवाद देना यहां पर आवश्यक है, पर इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जाने का डर है, इन सब शिलालेखों को दिया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन सकता है। उपरोक्त चौदह धर्मलिपियां बहुत आवश्यक थीं, इसलिए उनका अनुवाद ऊपर दे दिया गया है। शेष आठ स्तम्भ लिपियां भी बहुत आवश्यक समझी जाती हैं अतः उनका अनुवाद नीचे दे दिया जाता है।

पहली स्तम्भलिपि

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है:—इहलोक

धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, पूर्ण आज्ञापालन, प्रगाढ़ अध्यवसाय, और धर्मभय के विना मेरे कर्मचारियों को ऐहिक, और पारलौकिक सुख मिलना कठिन है। मेरे उपदेश के कारण उन लोगों में स्वतः धर्म के प्रति आदर और अनुराग बढ़ रहा है। मेरे कर्मचारी गण क्या उच्च श्रेणी के, क्या मध्यम श्रेणी के और क्या निम्न श्रेणी के सभी मेरे उपदेश के अनुसार कार्य्य करते हैं, और भविष्य में करेंगे। चञ्चल मति लोगों में धर्मानुराग वढ़ाने की व्यवस्था भी वे लोग करते हैं।

उसी प्रकार सीमाप्रान्त के मन्त्रिगण (अन्त महामात्र) भी धर्म-प्रचार करते हैं। इस उपाय के द्वारा मेरे उद्देश्य-धर्मानुसार पालन, धर्मानुसार शासन, धर्मानुसार उन्नति और धर्मानुसार रक्षा—अनायास ही सिद्ध होते हैं।

(२)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—धर्म्म उत्तम है पर यह पूछा जा सकता है कि धर्म्म है क्या पदार्थ ? धर्म्म थोड़ी से थोड़ी बुराई और अधिक से अधिक भलाई करने में है। धर्म्म दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इसलिए मैंने मनुष्यों, चौपायों, पक्षियों और जल-जन्तुओं के निमित्त सब प्रकार के दान दिये हैं। मैंने उनके हित के लिए बहुत से कार्य्य किये हैं। यहां तक कि उनके पीने के लिए जल का भी प्रबन्ध किया है। मैंने इस उद्देश्य से इस सूचना को खुदवाई है कि जिससे लोग उसके अनुसार चलें और सत्य पथ को ग्रहण करें। यह कार्य्य बहुत ही उत्तम और प्रशंसनीय है।

(३)

देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—मनुष्य केवल अपने अच्छे कामों को देखता है और कहता है कि मैंने अमुक उत्तम कार्य्य किया। पर वह कभी अपने बुरे कामों को नहीं देखता, वह कभी यह नहीं कहता कि मैंने अमुक पाप किया। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार की जांच दुःखप्रद है तथापि यह आवश्यक है कि, अपने मन में यह प्रश्न किया जाय और यह निश्चय कर लिया जाय कि दुष्टता, निर्दयता, क्रोध, अभिमान तथा इसी प्रकार के दूसरे दुष्कृत्य पाप हैं। सावधानी के साथ अपना आत्म-निरीक्षण करते रहना आवश्यक है। हृदय के अन्दर हमेशा इस प्रकार की भावनाएं रखना चाहिए कि मैं कभी दूसरों से ईर्षा न करूंगा अथवा उनकी निन्दा न करूंगा। इस प्रकार का कार्य्य मेरे लिए इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में लाभप्रद होगा।

(४)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के सोलहवें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। मैंने अपने लाखों प्रजा-गणों के लिए रज्जुकों को नियुक्त किया है रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार मैंने स्वयं अपने हाथ में रक्खा है जिससे कि वे पूरी दृढ़ता के साथ मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। प्रजा के सुखों और दुःखों की वे बराबर जांच करते रहते हैं और धर्म्मयुक्तों के साथ रह कर वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं। जिससे कि लोग इस लोक में सुख और भविष्यत् में मुक्ति प्राप्त कर सकें।

रज्जुक लोग मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं जिससे रज्जुक लोग सन्तोषजनक कार्य्य करें। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त रहता है और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है, उसी भांति मैंने भी अपनी प्रजा के लिए रज्जुकों को नियुक्त किया है और जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के साथ विना किसी चिन्ता के अपना कार्य्य करें, मैंने उनको अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रक्खा है। अभियुक्त बनाने और दण्ड देने में समान दृष्टि से काम लेना आवश्यक है। इसलिए आज की तिथि से यह नियम किया जाता है कि जिन कैदियों का न्याय हो जाय और जिन्हें फांसी की सज़ा का दण्ड मिले, उन्हें तीन दिन की अवधि दी जाय और उनको सूचना दे दी जाय कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगे न इससे अधिक और न इससे कम। इस बीच में वे परलोक साधन के लिए जितना दान-पुण्य करना चाहें कर लें। मेरी इच्छा है कि कारागार में भी उन्हें भविष्यत् का निश्चय दिलाया जाय और उसके साथ मेरी यह भी दृढ़ इच्छा है कि मैं प्रजा के अन्तर्गत इन्द्रिय दमन और दानशीलता के भाव देखूं।

(५)

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं—अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष के उपरान्त मैंने निम्नलिखित जानवरों के मारे जाने का निषेध किया है—तोता, मैना, अरुण,

चक्रवाक, हंस, नन्दिमुख, गैरन, चमगीदड़, अम्बक, पिल्लिक, दद्धि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गङ्गा नदी के पुप्पुत, संकुज, कफतसयक, पमनसस, सिमल, संदक ओकपिण्ड, पलसत, श्वेत कपोत, ग्राम कपोत और सब चौपाये जो किसी काम नहीं आते और खाये भी नहीं जाते। बकरी, भेड़ और शूकरी जब गर्भवती हों, अथवा दूध देती हों, या उनका बच्चा छः मास का न हो गया हो, तब तक न मारी जांय। लोगों के खाने के लिए मुर्गी को खिला पिला कर मोटी न बनाई जाय। जीते हुए जानवरों को न जलाया जाय। निरर्थक ढङ्ग से अथवा हिंसा के प्रयोजन से जङ्गल न जलाए जांय। एक जानवर को दूसरा जीवित प्राणी न खिलाया जाय। चातुर्मास की प्रत्येक पूर्णिमा को. पौष मास की पुष्य नक्षत्र युक्त पूर्णिमा को, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा को, और वर्ष के उपोसथ दिन में मछलियां मारी और बेची न जांय। प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या अथवा पूर्णिमा को पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों से युक्त दिनों में, अथवा चातुर्मास के प्रत्येक उपोसथ दिन में कहीं भी सांड़, भैंसा, बकरा, सुअर अथवा किसी भी वध किये जाने वाले जानवर का वध न किया जाय। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र में चातुर्मास की प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को और चातुर्मास के शुक्ल पक्ष में, घोड़े और बैल को दागना न चाहिए। अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में पच्चीसवीं बार मैंने बन्दियों को कारागार से मुक्त किया है।

---

(६)

देवप्रिय प्रियदर्शी राजा कहते हैं:—अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में प्रजा के लाभ और सुख के लिए मैंने सर्व प्रथम सूचनाएं खुदवाईं। मैं यह समझ कर प्रसन्न हूँ कि लोग इससे लाभ उठावेंगे एवं धर्म्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे। इस प्रकार ये सूचनाएं लोगों के लाभ और सुख का कारण होंगी। मैंने ऐसे उपाय किये हैं कि जिनसे मेरी दूरवर्त्ती और समीपवर्त्ती प्रजा के एवं मेरे सम्बन्धियों के सुख की वृद्धि होगी। इसी कारण मैं स्वयं अपने सब कर्मचारियों पर देखभाल रखता हूँ। सब पन्थ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं, परन्तु मैं उनके धर्म्म-परिवर्त्तन को बहुत अधिक आवश्यक समझता हूँ। यह सूचना मैंने अपने राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में खुदवाई है।

(७)

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी कहते हैं—प्राचीन काल में जो राजा लोग राज्य करते थे वे चाहते थे कि मनुष्य धर्म्म में उन्नति करे, परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म्म में उन्नति नहीं की।

तब देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—मैंने सोचा कि, प्राचीन समय के राजा लोग यह सोचा करते थे कि किस प्रकार प्रजा-गण आशानुरूप धर्म्म-वृद्धि कर सकते हैं, पर उनकी इच्छानुसार वे धर्मोन्नति लाभ न कर सके।

तब किन उपायों से प्रजा-गण को धर्मोन्नति में प्रवृत्त करवाया जाय? किन उपायों से उन्हें धर्म्म-पालन में प्रवृत्त

किया जाय ? किन उपायों से उनके हृदय में धर्म्म अपनी वृद्धि कर सकता है ?

इस विषय में देवप्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहते हैं—मैंने धर्म्म-सम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया है। जिसमें मनुष्य इनको सुन कर सत्य पथ को ग्रहण करें और अपनी उन्नति करें।

मैंने धार्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म्म के विषय में अनेक उपदेश दिये हैं जिसमें धर्म्म की बहुत शीघ्र उन्नति हो। मैंने प्रजा को धर्म्म-शिक्षा देने के लिए बहुत से कर्म्मचारी नियुक्त किये हैं, वे सब कर्मचारी अपने २ कर्त्तव्य-पालन में दत्तचित्त हैं। हजारों मनुष्यों पर मैंने रज्जुकों को नियुक्त किया है और आज्ञा दी है कि धर्म्मयुतों को सहायता दें।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—बड़ी २ सड़कों पर मैंने न्यग्रोध के वृक्ष लगवाए हैं जिससे कि वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें। मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं, मैंने आधे २ कोस पर कुएं खुदवाए हैं और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के लिए धर्म्मशालाएं बनवाई हैं। परन्तु मेरे लिए यथार्थ प्रसन्नता की बात यह है कि पहले के राजा लोगों ने अनेक अच्छे कार्य्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है परन्तु लोगों को धर्म्म पथ पर चलाने के एक मात्र उद्देश्य से मैं सब कार्य्य करता हूँ।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा—मैंने धर्म्म महामात्रों को नियत किया है जिससे कि वे सब प्रकार के धर्म्म प्रचार के कार्य्य में यत्न करें। सब धर्म्म के लोगों में, सन्यासियों

में और गृहस्थों में वे धर्म प्रचार करें। पुजारियों, ब्राह्मणों, संन्यासियों और निर्ग्रन्थ लोगों का ध्यान भी मेरे हृदय में रहा है। और उन सब लोगों में मेरे कर्म्मचारी कार्य्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपनी समाज में कार्य्य करते हैं और धर्म्म के प्रबन्धकर्त्ता लोग प्रायः सब धर्मों में कार्य्य करते हैं।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने कहा कि ये कर्म्मचारी तथा दूसरे कार्यकर्त्ता मेरे हथियार हैं। वे मेरे तथा रानियों के दिये हुए दान का वितरण करते हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि वे यहां तथा दूसरे प्रान्तों में मेरे लड़कों के दिये हुए दान को धर्म्म-कार्य्यों के साधन तथा धर्म-वृद्धि के कार्य्यों में बांटते हैं। इस प्रकार संसार में धर्म्म कार्य्य अधिक होते हैं और धर्म्म के साधन जैसे दया और दान, सत्य और पवित्रता, उपकार और भलाई की वृद्धि होती है।

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी कहते हैं:—मेरे किये हुए भलाई के अनेक कार्य्यों को उदाहरण स्वरूप समझकर लोगों ने सम्बन्धियों और गुरु की आज्ञा-पालन में, वृद्धों पर दयाभाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रमणों का सत्कार करने में, गरीब, दुखियों, नौकरों तथा गुलामों का आदर करने में उन्नति की है।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं:—मनुष्यों में धर्म्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है। (१) स्थिर नियमों के द्वारा (२) उन लोगों के हृदयों में धार्मिक नियमों को उत्तेजित करने के द्वारा। दोनों प्रकार के मार्गों में कठोर नियमों का रखना उचित नहीं है। केवल हृदय को धर्म्म की ओर प्रवाहित करने से ही लोगों में धार्मिक भावों का विकास होता है। यद्यपि दृढ़ नियमों

के द्वारा पशुवधनिषेध आदि उत्तम कार्य्यों के प्रचारित करने से भी धर्मवृद्धि हो सकती है, पर धर्म की वास्तविक उन्नति तो जनता के हृदयों में धार्मिक भावनाओं का सञ्चार करने से ही हो सकती है। इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे, और तब तक स्थिर रहे जब तक कि गगन-मण्डल में सूर्य्य और चन्द्रमा उदय और अस्त होते रहें। क्योंकि, मेरी इन शिक्षाओं पर चलने से मनुष्य दोनों लोकों में सुख प्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के सत्ताइसवें वर्ष में खुदवाई है। देवताओं के प्रियदर्शी सम्राट् कहते हैं जहाँ कहीं यह सूचना स्तम्भों पर है, वहां पर चिर काल तक स्थिर रहे।

इन धर्म-लिपियों पर विशेष आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। सहृदय पाठक इन लिपियों से अशोक के प्रजा-प्रेम, धर्म-प्रेम आदि का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। हमारे शास्त्रों में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजा के सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति, आचार और व्यभिचार आदि सब बातों का जिम्मेदार राजा है। उस पर केवल प्रजा के इसी लोक को सुधारने का उत्तर-दायित्व ही नहीं है, परन्तु प्रजा के परलोक सुधारने का भी वह जिम्मेदार है। वास्तव में सम्राट् अशोक ने अपनी जिम्मेदारी को खूब समझा था, और उन्होंने जितनी उत्तमता से अपने कर्त्तव्य को पूरा किया उतना शायद संसार के किसी नृपति ने न किया होगा।

मौर्य्य साम्राज्य पर एक दृष्टि

पिछले पृष्ठों में हम संक्षिप्त-रूप से मौर्य्य सम्राटों का इतिहास और उनकी शासन-नीति का विवेचन कर चुके हैं। इन पृष्ठों के पढ़ लेने पर हृदय में यह प्रश्न स्वाभाविकतया उत्पन्न हो सकता है कि, वे कौन से कारण हैं जिनसे चन्द्रगुप्त के समान साधारण व्यक्ति इतने थोड़े काल में ही इतने बड़े साम्राज्य का सङ्गठन करने में सफल हो सका, यह प्रश्न वास्तव में एक गम्भीर प्रश्न है। इस प्रश्न को हल करने के लिये समाज शास्त्र और दैशिक-शास्त्र के अध्ययन के साथ २ उस समय की तमाम परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है। इस संकीर्ण स्थान में दैशिक शास्त्र के उन सब सिद्धान्तों का उल्लेख करना असम्भव है जिनके कारण साम्राज्य स्थापित होते हैं और बिखर जाते हैं, जातियां बनती हैं और बिगड़ जाती हैं। फिर भी यदि संक्षिप्त में तत्कालीन परिस्थिति पर चार शब्द यहां लिखे जांय तो अनुचित न होगा।

हम इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिख आए हैं कि चन्द्रगुप्त के पहले भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति बहुत डांवाडोल हो रही थी। स्थान २ पर भिन्न २ राजाओं के राज्य थे और उन राजाओं में परस्पर सहानुभूति की भावनाएं न थीं। अस्तु! जिन लोगों ने दैशिक-शास्त्र का अध्ययन किया है वे अवश्य उन तत्त्वों को जानते होंगे जो दैशिक-शास्त्र के प्राण हैं, और जिनकी कमीबेशी से देश और जातियों का उत्थान और पतन हुआ करता है। दैशिक-शास्त्र की भाषा में इन

तत्त्वों को "चिति" और "विराट्" कहते हैं। "चिति" मनुष्य हृदय की उस मानसिक प्रवृत्ति को कहते हैं जिसके कारण मनुष्य हृदय में उदात्त भावनाएं काम करती हैं। इसके प्रभाव से मनुष्य जातिगत सुखों को ही अपना व्यक्तिगत सुख समझता है। जहां तक मनुष्य के हृदय में चिति का प्रकाश रहता है, वहां तक कभी व्यक्तिगत स्वार्थों के सम्मुख जातिगत स्वार्थों की उपेक्षा नहीं करता। किसी भी जाति के अभ्युदय काल में उस जाति के तमाम व्यक्तियों के हृदय में चिति का प्रकाश रहता है पर हर काल और हर परिस्थिति में यह प्रकाश एकसा नहीं रहता। ज्यों २ जाति में चिति का प्रकाश कम होता जाता है, त्यों २ उसका अधःपात होता जाता है। चिति से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक चक्र-शक्ति अर्थात् अनिष्टों में रक्षा करनेवाली शक्ति को "विराट्" कहते हैं। दैशिक शास्त्र में "चिति" और "विराट्" का कारण-कार्य सम्बन्ध माना जाता है। अर्थात् जहां तक व्यक्तियों में चिति का प्रकाश रहता है वहां तक समाज में भी विराट् जागृत रहता है, पर ज्यों २ चिति का लोप होता जाता है त्यों २ विराट् का भी ह्रास होता जाता है। जब किसी भी जाति में चिति और विराट् क्षीण हो जाते हैं तो उसका अधःपात आरम्भ हो जाता है और कुछ समय पश्चात् चिति और विराट् से सम्पन्न दूसरी जाति आकर उस जाति पर अधिकार कर लेती है; उपरोक्त सारे कथन को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि, जहां तक समाज में जातिगत स्वार्थों के सम्मुख व्यक्तिगत स्वार्थों को गौण समझा जाता है वहां तक जाति में जीवन

रहता है। और ज्यों ही व्यक्तिगत स्वार्थों के सम्मुख जातिगत स्वार्थों की उपेक्षा होने लगती है त्यों ही जाति मरने लग जाती है। जब हम दैशिक शास्त्र की इस कसौटी पर चन्द्रगुप्त के पहले की जातियों को जांचते हैं तो हमें मालूम होता है कि उस समय की जातियों में चिति और विराट् बहुत क्षीण हो चला था। लोग अपने स्वार्थों के साधन में ही तल्लीन थे। जाति के स्वार्थों की उन्हें कुछ परवाह न थी। ऐसी स्थिति में दैशिक शास्त्र के नियमानुसार उन जातियों का पतन होना आवश्यक था।

अब समाज-शास्त्र के अनुसार उस समय की स्थिति का अध्ययन कीजिये। समाज-शास्त्र के नियमानुसार मनुष्य का अपने समाज से वही सम्बन्ध है जो किसी इन्द्रिय का अपने शरीर से अथवा किसी शाखा का अपने वृक्ष से होता है। परन्तु जिस प्रकार इन्द्रियों को शरीर की रक्षा के लिये और शाखा को वृक्ष की रक्षा के लिए कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने समाज की रक्षा के लिये कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता है। इन्द्रियों के कर्तव्य-च्युत होते ही जिस प्रकार शरीर में व्याधि खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार व्यक्तियों के सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने से समाज में विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है। पशुओं और कीड़ों में भी समाज-शास्त्र का यह नियम अनवरत रूप से काम करता है, इसका उत्तम उदाहरण मधुमक्खियां हैं। एक मक्खी पर आफ़त आते ही तमाम मक्खियाँ अपने निजी स्वार्थों को भूल कर उसकी सहायता के लिये दौड़ पड़ती हैं। और

यही कारण है प्रायः सभी प्राणी इन तुच्छ कीड़ों से डरते रहते हैं। मतलब यह कि, समाज-शास्त्र का यह नियम जहां तक समाज में काम करता रहता है, जहां तक समाज में सङ्गठन शक्ति का जोर रहता है, एक दूसरे की सहायता करने की भावनाऐं रहती हैं, वहां तक वह समाज कभी अवनत नहीं हो सकता। समाज-शास्त्र के इस नियम की अवहेलना होते ही अर्थात् यों कहिए कि, सङ्गठन शक्ति का लोप होते ही समाज की बरबादी का होना प्रारम्भ हो जाता है। चन्द्रगुप्त के पूर्व समाज-शास्त्र के इन नियमों की पूर्ण अवहेलना होने लग गई थी। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की और एक राजा दूसरे राजा की, सहायता करने में प्रायः उदासीन रहता था। इसका एक उदाहरण लीजिये। मकदूनिया के राजा सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। उसका पहला हमला राजा पोरस पर हुआ, और उसमें सिकन्दर विजयी और पोरस पराजित हुआ। इस पराजय के कारणों का ध्यानपूर्वक मनन कीजिये। यह पराजय क्यों हुई? क्या पोरस कमजोर था? नहीं, एक भारतीय योद्धा को जितना वीर होना चाहिए, पोरस उससे भी अधिक वीर था, स्वयं सिकन्दर ने मुक्तकण्ठ से उसकी वीरता की प्रशंसा की है। तब क्या सिकन्दर के पास कोई दैवी शक्ति थी? नहीं, वह भी एक मामूली सेना के साथ आया था। फिर पोरस के पराजित होने का कौनसा कारण है, यही कि, उस समय के राजाओं के दिलों से यह भावना उठ गई थी कि, पोरस भी हमारे ही समाज का है, उसकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है। वे यह बात भूल गये

थे कि इसकी पराजय से हमारी ही हानि है। इसी कारण उन्होंने पोरस की कुछ भी सहायता नहीं की, उलटे तक्षशिला प्रभृति के नृपतियों ने पोरस के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता की थी। ऐसी हालत में बेचारे पोरस की गुज़र ही क्या थी। इस परिस्थिति में पड़ कर तो बड़े २ साम्राज्य भी उलट जाते हैं।

पोरस की इस पराजय को सारे भारतवर्ष ने देखा। पर किसीने भी उस पर ध्यान नहीं दिया। केवल एक व्यक्ति ने इस पराजय का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। वह चन्द्रगुप्त था। उसने तत्काल इस पराजय से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि, इस समय भारतवर्ष की स्थिति बहुत ही नाजुक है। तमाम राजा अपनी २ खिचड़ी अलग पका रहे हैं। इस समय इन सब राजाओं को पराजित कर सहज ही में एक विशाल साम्राज्य का सङ्गठन किया जा सकता है। इस विचार के आते ही कर्मशील और उद्योगी चन्द्रगुप्त तत्काल ही सिकन्दर से मिलने गया। कहा जाता है कि, वहां पर उसने यूनानियों का युद्धकौशल और रंग ढंग देखा। वहां से पारङ्गत हो कर वह वापस आया। अब उसको एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो सब बातों में उसकी सहायता करे। दैव सुयोग से शीघ्र ही उसे संसार का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कौटिल्य मिल गया जिसकी सहायता से उसने कुछ जङ्गली सेना इकट्ठी कर के नन्दवंश का नाश कर दिया, और फिर कुछ ही काल में सारे भारतवर्ष का सम्राट् बन बैठा। अब हम सहज ही उन कारणों को निकाल सकते हैं जिनके द्वारा चन्द्रगुप्त के समान साधारण व्यक्ति सम्राट् हो गया। वे कारण ये हैं:—

(१) देश की परिस्थिति बहुत डांवाडोल हो रही थी। भिन्न २ राजाओं में आपस में सहायता करने की भावना मर चुकी थी। सब राजाओं की शक्तियाँ बिखर २ कर नाजुक हो गई थी। ऐसी स्थिति में कोई भी बुद्धिमान् और उत्साही मनुष्य मामूली शक्ति के द्वारा साम्राज्य संगठन कर सकता था।

(२) चन्द्रगुप्त स्वयं एक विशेष कर्मशील, और वीर-पुरुष था, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं ने उसके साम्राज्य संगठन में बहुत सहायता दी।

(३) कौटिल्य समान संसार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ का मिल जाना भी चन्द्रगुप्त के लिये स्वर्ण सुयोग हुआ। यदि कौटिल्य न होता तो साम्राज्य सङ्गठन होता या नहीं यह कौन कह सकता है।

यहां तक हम उन कारणों पर विचार कर चुके जिनके द्वारा चन्द्रगुप्त को साम्राज्य-सङ्गठन में सहायता मिली। अब हमें चन्द्रगुप्त के पश्चात् भारत की क्या दशा रही उस पर भी तात्विक दृष्टि से कुछ विचार करना है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, सारे देश के एकछत्री शासन में आ जाने से अपनी २ बांसुरी और अपना २ राग वाली भावनाओं का नष्ट होना स्वाभाविक ही था। अब सब लोगों को अपने हितों की अपेक्षा साम्राज्य के हितों की ही चिन्ता अधिक रहती थी। साम्राज्य पर किसी विपत्ति के आते ही जो राजा लोग पहले अपने पड़ोसी की मदद करने में भी हिचकते थे, अब वे सब इकट्ठे होकर साम्राज्य की रक्षा के लिए चले जाते थे। किसी अकेले राज्य पर किसी विपत्ति का आना असम्भव सा था। क्योंकि,

विपत्ति आते ही साम्राज्य से उसे सहायता मिल जाती थी। मतलब यह कि, साम्राज्य-संगठन होते ही सारे देश में एक राष्ट्रीयता के भावों का संचार हो गया। जिसका फल यह हुआ कि, सिकन्दर से भी अधिक शक्तिशाली सेना के साथ आक्रमण करने वालों को हार खाकर लौटना पड़ा। इस प्रकार से सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भारतीय शक्ति का सङ्गठन कर यूनानी वीर को भारतीय लोहे का मजा चखा दिया।

अब चन्द्रगुप्त और अशोक के शासन पर कुछ शब्द लिख कर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

चन्द्रगुप्त के शासन का जो विवेचन पहले किया जा चुका है उससे उसकी शासन-पद्धति की महत्ता प्रकट होती है। कुछ लोगों का विश्वास है कि, यूरोप की आधुनिक शासन-प्रणाली संसार की सब प्राचीन शासन-पद्धतियों से उत्तम है। जिन लोगों की ऐसी धारणा है वे यदि चन्द्रगुप्त के समकालीन कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र को निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ेंगे तो हमारा विश्वास है उनको यह धारणा भ्रममूलक मालूम होने लगेगी। इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं कि आधुनिक यूरोप की शासन-प्रणाली कई अंशों में बहुत उन्नत हो चुकी है। पर जहां तक हमारा अनुमान है आज भी उसमें कोई ऐसा नवीन विभाग नहीं है जो चन्द्रगुप्त और अशोक के काल में न हो। कुछ लोगों का अनुमान था कि, उस काल में मर्दुमशुमारी खुफिया आदि विभागों का प्रबन्ध न था; पर उस अर्थशास्त्र के प्रकाश में आते ही यह सब दूर हो गया। खुफिया पुलिस का तो उस समय इतना अच्छा प्रबन्ध था जितना शायद ही किसी काल के किसी शासन में रहा हो।

इसके अतिरिक्त कृषि की उन्नति का प्रबन्ध, औषधालयों का प्रबन्ध, अकाल, महामारी, आग, पानी, आदि से रक्षा पाने का प्रबन्ध आदि सब उस शासन में था। दीवानी और फौजदारी अदालतों का जितना उत्तम प्रबन्ध उस समय था, उतना आज भी नहीं है। आज कल की तरह उस समय के कर्म-चारियों में रिश्वत का बाज़ार भी गर्म न था। मतलब यह कि, एक सभ्य राज्य का शासन जिस प्रकार होना चाहिए, चन्द्रगुप्त का शासन उससे कहीं अच्छा और अशोक का उससे भी अधिक उत्तम था। उस शासन में यदि कोई त्रुटि हो सकती है, तो केवल एक, वह है दण्ड-विधान की सख्ती। कई इतिहासज्ञ इन सख्त दण्डों को चन्द्रगुप्त और अशोक के लिए कलङ्क स्वरूप समझते हैं। हम भी उनके इस मत से कुछ अंशों में सहमत हैं, अवश्य इस प्रकार की भयङ्कर दण्ड-प्रणाली एक सभ्य राज्य के लिए कलङ्क स्वरूप हो सकती है। पर यदि इसी को दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो वह उतनी भयङ्कर नहीं जँचती। राज्य की उत्पत्ति का मुख्य उद्देश्य क्या है? रजोगुण की अधिकता के कारण समष्टि और व्यष्टि में एक प्रकार की जटिलता उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का और एक समाज दूसरे समाज का अनिष्ट करने लगता है। यह भावना राजनैतिक कोष में अपराध के नाम से पुकारी जाती है। इस प्रकार के अप-राधों की संख्या को समाज में न होने देने के लिये और गाम्भीर्य बनाए रखने के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। इन अपराधों की संख्या को घटाने के लिए राज्य, साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार नीतियों का अवलम्बन करता है। जो राज्य साम नीति से

द्वारा समाज के अपराधों की संख्या घटाता है वह सब से अधिक सभ्य समझा जाता है। पर कभी २ समाज की यह जटिलता ऐसी दुष्कर हो जाती है कि, बिना दण्ड और भेद नीति का अवलम्बन किये वह दूर नहीं हो सकती। सम्भव है चन्द्रगुप्त के शासन के पूर्व समाज की अवस्था ऐसी ही जटिल हो रही हो, जिसे सुलझाने के लिए उसे ऐसी दण्डनीति का अवलम्बन करना पड़ा। पर यह निश्चय है, इसी दण्ड और भेद नीति के बल पर उसने समाज में शान्ति स्थापना कर दी। इसी दण्डनीति का प्रताप था कि, मेगास्थनीज़ के समान राजदूत को भी मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा। यहां पर अपराधों की संख्या बहुत कम होती थी। इससे यह न समझना चाहिए कि, चन्द्र-गुप्त का शासन केवल दण्डनीति पर ही अवलम्बित था। नहीं, साम और दाम नीतियों के द्वारा भी समाज-सुधार की चेष्टायें उसके राज्य में बराबर होती रहती थी। इसके अतिरिक्त इससे यह भी न समझ लेना चाहिए कि, इस निर्द्धारित की हुई दण्ड-नीति का प्रयोग हमेशा एकसा ही हुआ करता था। प्रथम तो दण्डनीति की इस भयङ्करता के कारण कोई व्यक्ति अपराध करने का साहस ही नहीं करता था। यदि कोई करता भी तो मजिस्ट्रेट लोग बहुत सूक्ष्म दृष्टि से उस अपराध की जांच करते थे, ऐसी स्थिति में बहुत ही कम अपराध ऐसे निकलते थे जिनके लिये उपरोक्त भयङ्कर दण्ड-नीति का अवलम्बन करना पड़ता था। शेष साधारण अपराधों के लिये साधारण सज़ाएं दे दी जाती थीं। मतलब यह कि, कानून के अन्दर सैद्धान्तिक-रूप से यह दण्ड-नीति अवश्य भयङ्कर रक्खी गई थी, पर व्यवहारिक

रूप में उसका बहुत ही कम प्रयोग होता था। कुछ भी हो आज कल के ऐतिहासिक लोग इसकी कितनी ही निन्दा क्यों न करें पर यह निर्विवाद है कि, चन्द्रगुप्त और अशोक के शासन-काल में प्रजा के अन्दर जितनी शान्ति थी, उसका शतांश भी आज कल के यूरोप में नहीं है।

मौर्य्य साम्राज्य का अन्त।

सम्राट् अशोक के पश्चात् मौर्य्य वंश के किसी भी प्रतिभाशाली सम्राट् का, लिखित वर्णन हमें नहीं मिलता। यद्यपि उनके पश्चात् कई वर्षों तक मौर्य्य साम्राज्य का अस्तित्व रहा, तथापि वह तेज और वह प्रतिभा जो अशोक के साम्राज्य में थी, अब नष्ट हो चुकी थी और साम्राज्य की नींव भी क्रमशः ढीली होती जा रही थी। अशोक के पश्चात् क्रमशः सुयश, दशरथ, संगत, शालिशुक सोमशर्म्मा और बृहद्रथ नामक राजा क्रमशः गद्दी पर बैठे। अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्पमित्र ने धोखे से मार डाला, और इसके साथही मौर्य्य साम्राज्य का एक तरह से अन्त हो गया। केवल राजपूताना मालवा आदि में कुछ दिनों तक और अशोक के वंशजों का राज्य रहा।

शुंगवंश का उदय और अस्त।

बृहद्रथ का वध करके पुष्पमित्र सिंहासन पर बैठा। इसका वंश भारतीय इतिहास में "शुंगवंश" के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्पमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। एक यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए उसका पौत्र वसुमित्र एक राजकुमार और सेना सहित नियुक्त किया गया था। सिन्धु (काली सिन्ध) नदी के किनारे

के यवन (यूनानी) लोगों ने उस घोड़े को पकड़ लिया था पर वसुमित्र के सम्मुख वे लोग बुरी तरह से पराजित हुए। वसुमित्र ने घोड़ा छुड़ा लिया। इसके पश्चात् वह घोडा कहीं पर भी न रोका गया। पुष्पमित्र का अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्नता से समाप्त हुआ।

शुङ्गवंशीय राजा पुष्पमित्र के जीवन की दो घटनाएं विशेष प्रसिद्ध हैं। पहली घटना वाखतर के तत्कालीन शासक के सम्बन्धी मिनैण्डर का भारतवर्ष पर आक्रमण है। ईस्वी सन् से १५५ वर्ष से ईस्वी सन् से १५३ वर्ष पूर्व के बीच में मिनैण्डर ने जिसने कि मौर्य्य वंश के अन्त के समय में पंजाब और काबुल पर अधिकार कर लिया था भारतवर्ष पर आक्रमण किया। सर्व प्रथम उसने मथुरा और काठियावाड़ पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लिया! इसके पश्चात् राजपूताने में मध्यमिका (चित्तौड़ से सात मील उत्तर में जिसको अब "नगरी" कहते हैं) पर चढ़ाई करके वह पाटलिपुत्र के समीप तक आ पहुँचा। पुष्पमित्र ने युद्ध की पूरी तैयारी के साथ उसका मुकाबिला किया। घमासान युद्ध हुआ। अन्त में वीर सेल्यूकस की तरह इस गर्वित आक्रमणकारी को भी हार खाकर लौटना पड़ा। पुष्पमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अग्निमित्र को सिंहासन मिला, उसके पश्चात् इस वंश में नो राजा और हुए। इस वंश का अन्तिम राजा देवभूति बहुत विषयासक्त और अकर्मण्य था। इसके प्रमाद से इस वंश का अन्त हुआ।

कण्व वंश।

शुंगवंश के अन्तिम राजा देवभूति को उसके मन्त्री वासुदेव ने षड्यन्त्र के द्वारा मरवा डाला, और उनकी जगह पर स्वयं

राजा बन बैठा। इसके वंश में क्रमशः तीन राजा और हुए। अन्तिम राजा को अंध्रवंश के सातवाहन नामक राजा ने मार डाला। इस वंश के पतन के बाद अन्ध्रवंश का उदय हुआ।

अन्ध्र वंश

अन्ध्र लोग द्रविड़ देश के रहनेवाले थे। उनका राज्य कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहाने पर हिन्दुस्थान के पूर्व की ओर था। इसका पहला राजा "सिमुक" नाम का था। इनकी राजधानी कृष्णानदी के तीर पर स्थित श्रीकाकोल नामक नगर में मानी जाती है। इसके दूसरे सम्राट् कृष्ण ने अपने राज्य का विस्तार नासिक तक कर लिया। इसी वंश के किसी एक राजा ने सुशर्मा नामक राजा को मार कर उसका राज्य हथिया लिया। तत्पश्चात् "हाल" नामक राजा गद्दी पर बैठा। उसने मराठी भाषा में "सप्तशती" नामक ग्रन्थ लिखा। कई लोग इसको "शालिवाहन" या शातवाहन भी कहते हैं। राजा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी, और वासिष्ठि पुत्र श्री पुलुमावी के शासनकाल में पश्चिमी तट पर स्थित क्षत्रप राजाओं और अन्ध्र राजाओं में युद्ध हुआ था। गौतमी-पुत्र ने क्षत्रप नरेश क्षहरात वंशी "नहपान" को हरा कर उसका राज्य छीन लिया था। उसके पुत्र पुलुमावी ने उज्जैन के क्षत्रप नरेश रुद्रदामा की लड़की से शादी की थी। परन्तु कुछ समय पश्चात् श्वसुर और जमाई में मनोमालिन्य हो गया, जिसके फल स्वरूप दोनों में युद्ध छिड़ गया जिसमें रुद्रदामा विजयी हुए और पुलुमावी पराजित हुए। पुलुमावी

की मृत्यु के पश्चात् गौतमीपुत्र "यज्ञ श्री" राजा हुए। इसके पश्चात् इस वंश में तीन राजा और हुए। जिनके नाम क्रमशः "विजय," "चन्द्र श्री," और "पुलुमायी" थे।

कुशान वंश

इसी वंश के साथ भारतवर्ष में "कुशान" वंश भी राज्य कर रहा था। इसका पहला राजा "कड्फिसिस" था। उसने अपने जीवन काल में पंजाब और काशी पर अधिकार कर लिया। इस वंश का सब से बड़ा राजा "कनिष्क" था। यह कैडिफिसिस का पौत्र था। इसी के समय में रोम और भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध जुड़ा था। विदेशों में कनिष्क की प्रसिद्धि अशोक की तरह हो गई थी। कनिष्क ने चीन का भी थोड़ासा हिस्सा जीत लिया था। इसीके द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का इतना अधिक प्रचार हुआ। अपने जीवन काल में उसने १३ मंजिल का चार सौ पाद ऊंचा लोहे का एक स्तम्भ बनवाया। कनिष्क के पश्चात् उसका पुत्र हविष्क गद्दी पर बैठा। काश्मीर, काबुल और मथुरा उसके राज्य में सम्मिलित थे। उसके पश्चात् "वासुदेव" नामक राजा सिंहासन पर बैठा। इसी के समय में बेबीलोनिया के अन्दर एक भयङ्कर क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति का हिन्दुस्थान पर भी बहुत प्रभाव पड़ा जिसके कारण कुशान वंश का भी पतन प्रारम्भ हो गया।

महाराज कनिष्क

कुशान वंश का परिचय देते हुए हम महाराज कनिष्क का भी कुछ परिचय दे आये हैं। इस स्थान पर हम उन्हीं महाराज कनिष्क का कुछ विस्तृत परिचय देना उचित समझते हैं। यद्यपि महाराज कनिष्क हिन्दू नहीं थे, और उनके पूर्वज तुर्किस्तान की ओर से आये थे. तथापि एक प्रकार से यदि उन्हें हिन्दू ही कहा जाय तो भी अनुचित न होगा। ये लोग भारतीय कर्म्म और भारतीय सभ्यता के उतने ही उपासक थे, जितने मूल हिन्दुस्तानी हुआ करते हैं। बौद्ध धर्म का तो जितना प्रचार कुशान वंशीय कनिष्क ने किया, उतना अशोक को छोड़ कर शायद ही किसी सम्राट् ने किया हो। इसके अतिरिक्त इनके कई सिक्के ऐसे भी मिले हैं जिनसे इनके शैवमतावलम्बी होने का पता चलता है। मतलब यह कि, धर्म्म और सभ्यता की दृष्टि से यदि इन्हें हिन्दू ही कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

इसी दृष्टि बिन्दु को सम्मुख रख कर—महाराज कनिष्क की हिन्दू सम्राटों में गणना करते हुए हम अगले पृष्ठों पर संक्षेप में उनका इतिहास देते हैं।

महाराज कनिष्क गांधार के बड़े प्रतापी राजा थे। समग्र उत्तर पश्चिमी भारत, दक्षिण में विन्ध्य तक का देश, और सिन्ध इन्हीं के अधिकार में था। इनके समय में भारतवर्ष से पार्थियन राज्य का अन्त हो गया था। भारतवर्ष में इनकी राजधानी पुरुषपुर अथवा पेशावर थी। यहां पर इन्होंने बड़े २ बौद्ध स्तूप और मठ बनवाये थे। चीनी यात्री सुंगयुन ने वहां के एक बौद्ध स्तूप को देखा था। उस समय तक वह स्तूप बिजली गिरने से तीन बार नष्ट हो चुका था। परन्तु वहां के राजाओं ने उसकी मरम्मत करवा दी थी। इसी के पास एक मठ था, जो बौद्ध धर्म्म की शिक्षा के लिए ईसा की नौवीं शताब्दि तक प्रसिद्ध था। अन्त में शायद महमूद गजनवी या उसके अनुयायियों ने इसे नष्ट कर डाला। भारतीय पुरातत्वानुसन्धान के महकमें के परिश्रम से आज भी उपर्युक्त स्थानों के भग्नावशेष देखने को मिलते हैं।

महाराज कनिष्क ने पार्थिया पर भी आक्रमण किया था। और अपने अन्तिम समय में, विमकड्फ़िसस का बदला लेने को इसने चीन के शासित तुर्किस्तान पर भी आक्रमण किया। भयङ्कर युद्ध के पश्चात् अन्त में कनिष्क को विजय मिली और काशगर, यारकन्द तथा खोतान पर इसका अधिकार हो गया। इस विजय को स्थायी बनाने के लिए कनिष्क वहां के राज परिवार के कुछ लोगों को अपने साथ ले आया था। ये लोग जमानत के तौर पर इसकी रक्षा में रहते थे। इनके लिए हर प्रकार का सुभीता किया गया था। ग्रीष्म काल में ये लोग कपिशा के मठों में रहते थे जहां शीतलता रहती थी। वर्षा में इनका

निवास स्थान गान्धार था और सर्दियों में ये लोग पूर्वी पंजाब में रहा करते थे ।

साहित्य उन्नति ।

सम्राट् कनिष्क के समय में भारतीय साहित्य की बहुत उन्नति हुई। प्रसिद्ध वैद्य चरक (जिनके लिखे हुए ग्रन्थ आज भी वैद्यक में प्रमाणभूत माने जाते हैं) इन्हीं के समकालीन थे। वे स्वयं कनिष्क की सभा के राजवैद्य थे। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, नागार्जुन, और वसुमित्र की प्रतिभा का प्रकाश भी कनिष्क के समय में ही हुआ था ।

सम्राट् कनिष्क के समय के बहुत से सिक्के सोने और तांबे के मिलते हैं। इसमें एक ओर राजा का चित्र होता है और ग्रीक अक्षरों में 'कनेकर्स' लिखा हुआ रहता है। दूसरी ओर किसी सिक्के पर नन्दी और महादेव, किसी पर "बुद्ध" आदि भिन्न २ देवताओं के चित्र रहते हैं।

सम्राट् कनिष्क ने अपने जीवन काल में बौद्धों की एक महासभा कश्मीर में की थी। जिसके उपसभापति अश्वघोष बनाए गए थे। इस सभा का विस्तृत वर्णन आगे के पृष्ठों पर अंकित है।

कनिष्क की मृत्यु का अनुमान सन् १३२ ई० के आस पास किया जाता है।

महाराज कनिष्क और बौद्ध धर्म ।

हम ऊपर लिख आए हैं कि कुशानवंशीय महाराज कनिष्क ने बौद्ध धर्म अङ्गीकार कर लिया था। उन्होंने भी सम्राट् अशोक

की ही तरह बौद्ध धर्म्म के प्रचार का बहुत उद्योग किया। तिब्बत, चीन, मङ्गोलिया आदि देशों में भी उन्होंने धर्म्म प्रचारकों को भेजा था। अपनी राजधानी पुरुषपुर—जिसे आजकल पेशावर कहते हैं—में उन्होंने महात्मा बुद्ध की स्मृति में एक विशाल लाट भी बनाई थी, इसकी ऊंचाई तीन मंजिलों में करीब चारसौ फ़ीट थी। कनिष्क के जीवन काल में एक और प्रसिद्ध घटना हुई, वह घटना बुद्ध सम्प्रदाय का दो विभागों में विभक्त होना है। इसका विवरण इस प्रकार है—

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्राट् कनिष्क के समय तक बौद्ध धर्म्म में क्रमशः बहुत विकृति हो गई थी। सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध धर्म्म फिर कुछ अंशों में शुद्ध था। पर थोड़ी बहुत विकृति तो उसमें बुद्ध की मृत्यु के बाद से ही होने लग गई थी। स्वयम् महात्मा बुद्ध ने अपनी युक्तियों के बल पर अपने मत का प्रतिपादन किया था, पर उनके भावी अनुयायियों में वह प्रतिभा न रही, इसलिये उन्होंने युक्ति के स्थान पर विश्वास को ग्रहण किया। जो कुछ भगवान् बुद्ध कह गये हैं वही सही है, बस इसी तर्क पर उन्होंने बुद्ध धर्म्म के सिद्धान्तों को जीवित रक्खा। पर इस में भी एक आपत्ति आकर खड़ी हो गई। कुछ पाखण्डियों ने बुद्ध के असली सिद्धान्तों में मनमाने बहुत से नकली सिद्धान्त मिला कर उनका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। तर्क का ज़माना तो था नहीं, जैसा उन्होंने कहा, वैसा ही लोगों ने मानना शुरु कर दिया। बस अन्धेर नगरी के मच जाने से उस धर्म में बहुत से मतभेद हो गये। कोई एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता, तो कोई दूसरे का।

सम्राट् अशोक के समय में यह छीना झपटी बहुत बढ़ रही थी; इस कारण सम्राट् को इस विशृंखलता के दूर करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने तत्काल ही बौद्ध भिक्षुओं की एक विराट् सभा की प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु उपगुप्ताचार्य्य भी इसमें सम्मिलित थे। इस सभा में उन सब पाखण्डियों को छांट दिया गया जो स्वार्थ के वशीभूत होकर धर्म में मनमानी मिलावट किया करते थे। इस सभा का फल यह हुआ कि, बौद्ध धर्म में एक बार फिर शान्ति छा गई। पर कुछ वर्षों के पश्चात् अर्थात् अशोक के साम्राज्य का अन्त होते ही यह विशृंखलता फिर प्रारम्भ हो गई। इस बार इसने और भी भीषण रूप धारण किया। अशोक के समय में तो पाखण्डियों की संख्या अधिक न बढ़ी थी। पर अब उसमें अधिक संख्या स्वार्थी लोगों की हो गई। और साधुओं की संख्या बहुत कम रह गई, स्वयं बड़े २ राजा भी इन नकली भिक्षुओं के फन्दे में पड़ गये। इन लोगों के पड़ने का एक कारण था, वह कारण मनोविज्ञान के सूक्ष्म तत्वों से सम्बन्ध रखता है।

कुछ पहुँचे हुए ऊंचे महापुरुषों को छोड़ कर जन साधारण की प्रवृत्ति सामान्यतः ऐसे धर्म की ओर झुका करती है, जो मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को और तर्क की अपेक्षा विश्वास को उच्च स्थान देता है जिसमें एक परमेश्वर, शान्ति प्रधानक और अलौकिक उपास्य की कल्पना रहती है। उसकी बौद्ध धर्म में यह बात न थी। दार्शनिक दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक हो सकता है पर इस दृष्टि से भी यह बिलकुल नीरस था। और इसलिये साधारण जनता की उसका

रुचिकर होना कठिन हो गया। अवश्य कुछ समय तक महात्मा बुद्ध के प्रभाव से प्रभावान्वित होकर लोगों ने उस धर्म को अपनाया। पर उनके निर्वाण होते ही साधारण जनता उसके वास्तविक पालन में कमजोरी दिखलाने लगी और उसके साथ ही उस धर्म में विकृति होना प्रारम्भ हो गया। इधर भारतवर्ष में एक ऐसा धर्म भी मौजूद था, जिसमें जनता की रुचि के अनुकूल सब बातें थीं। वह वैदिक धर्म था। बुद्ध धर्म में इस प्रकार की विकृति होते ही, यह धर्म पुनः प्रकाश में आने लगा कनिष्क के समय में यद्यपि प्राधान्य बौद्ध धर्म का ही था, तथापि इस धर्म में भी पुनर्जीवन आता दिखलाई देने लगा था। बल्कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि, बुद्ध धर्म के ऊपर भी इसकी एक ज़बर्दस्त छाप लग गई थी। वास्तविक बौद्ध धर्म में किसी व्यक्ति विशेष की उपासना, चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा सिद्ध, ऋषि, देव, क्यों न हो निरर्थक है। पर कनिष्क कालीन बौद्ध धर्म में यह बात नहीं थी। उस काल के अधिकांश बौद्ध भगवान् बुद्ध को अन्य मतावलम्बियों के ईश्वर की तरह मानने लग गये थे। वे उनको सद्गति का दाता मान कर उनकी पूजा भी करने लग गये थे। मतलब यह कि, उन्होंने असली बौद्ध धर्म पर नैतिक धर्म के इस सिद्धान्त का रंग देकर और का और बना दिया था। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो असली बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और जिन्हें पवित्र बुद्ध धर्म में इस प्रकार की मिलावट होते देख कर हार्दिक दुःख हो रहा था। ऐसे लोग बहुत काल तक इस प्रकार के परिवर्तन का विरोध करते रहे,।

पर साधारण जनता बुद्धदेव की उच्च, नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा पर अपना ध्यान एकाग्र करने में बिलकुल असमर्थ थी। जब यह मतभेद अधिकाधिक बढ़ने लगा तो महाराज कनिष्क ने सम्राट् अशोक की तरह पुनः एक बार बौद्ध भिक्षुओं की एक विशाल सभा कश्मीर में की। इस सभा के अन्दर बौद्ध धर्म दो भागों में विभक्त हो गया। असली बौद्ध धर्म का उपासक समुदाय बहुत कम संख्या में था अतः वह "हीनयान" नाम से प्रसिद्ध हुआ। और परिवर्तित बौद्ध धर्म का उपासक समुदाय बहुत बड़ी संख्या में होने से "महायान" कहलाया। यहां यह बतला देना आवश्यक है कि स्वयं महाराज कनिष्क परिवर्तित धर्म के अर्थात् महायान पन्थ के उपासक थे।

गुप्त साम्राज्य का उदय।

कुशान वंश और अन्ध्र वंश के नष्ट होने पर भारतवर्ष में जगत् प्रसिद्ध गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ। मौर्य्य साम्राज्य की ही तरह इस साम्राज्य का इतिहास भी भारतवर्ष के लिए बड़े अभिमान की वस्तु है। इस साम्राज्य के अन्तर्गत भारतवर्ष की बहुत अधिक उन्नति हुई। ईस्वी सन् ३२० में इस वंश का प्रारम्भ हुआ। इस वंश का इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण है; अतः हम आगे इस वंश के प्रत्येक सम्राट् का कुछ विस्तृत विवेचन करना उचित समझते हैं।

प्रथम चन्द्रगुप्त



जिस प्रकार मौर्य्य वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रारम्भ में एक साधारण व्यक्ति थे, उसी प्रकार गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त भी प्रारम्भ में बहुत साधारण व्यक्ति थे। इनके पिता "घटोत्कच" और दादा "गुप्त" अपने जीवन में केवल सरदार पदवी को प्राप्त कर सके थे। पर जिस प्रकार मौर्य्यवंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने उत्साह और पराक्रम के बल से इतने बड़े साम्राज्य का सङ्गठन किया, उसी प्रकार गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त अपने भाग्य के बल से इतने बड़े साम्राज्य के सूत्रधार हुए।

ईसा की तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष में "लिच्छवि" नाम के एक प्रतापी वंश का राज्य था। यह लिच्छवि वंश कौन था और कहां से आया था इसका विवेचन आगे किया जायगा। इसी लिच्छवि वंश के कारण मौर्य्य साम्राज्य के समान महान् गुप्त साम्राज्य का जन्म हुआ। वैशालि के राजा ने सन् ३०८ में अपनी कन्या "कुमारदेवी" का पाणिग्रहण प्रथम चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। इसी विवाह के कारण भारतवर्ष के इतिहास में एक सुवर्ण युग का सूत्रपात होता

हुआ दिखलाई पड़ता है। कुमारदेवी के साथ विवाह हो जाने से चन्द्रगुप्त उसके माता पिताओं की उपयुक्त महान् पदवी को प्राप्त कर सका था; उसने अपने पराक्रम से गङ्गा और यमुना के सङ्गम तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। अपने थोड़े से राज्य-काल में ही उसने दक्षिण मगध, अयोध्या आदि प्रान्तों को हस्तगत कर लिया था। सन् ३२० में चन्द्रगुप्त ने अपने नाम का एक संवत् भी चलाया था जो पीछे जाकर "वलभी संवत्" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह संवत् ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक भारत में चलता रहा।

लिच्छवि वंश कौन था?

लिच्छवी वंश कौन था, इस विषय में आधुनिक इतिहासकारों में बहुत मतभेद पाया जाता है। कोई इस वंश के लोगों का मूल स्थान तिब्बत बतलाते हैं और कोई ईरान। पर अभी तक जो मत स्थिर हुआ है, उससे पता चलता है कि इस वंश के राजा सूर्यवंशी थे। ईस्वी सन् से ५२० वर्ष पूर्व इस वंश के राजाओं का राज्य वैशाली में था। और उस समय के आस पास ही शिशुनाग वंशी राजा बिम्बसार (श्रेणिक) ने इस वंश की एक कन्या से विवाह किया था। इस कन्या के गर्भ से अजातशत्रु (कुणिक) का जन्म हुआ। जैन ग्रन्थों में लिखा है कि वह कुणिक अपने पिता को मार कर राज्य का स्वामी बन बैठा। उस समय शिशुनाग वंश का राज्य नालन्द, अङ्गदेश और मगधदेश पर था।

इसके अतिरिक्त जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की माता भी इसी वंश की थीं।

उक्त समय के पश्चात् करीब आठसौ वर्ष का लिच्छवियों का इतिहास अन्धकार में है। उसके पश्चात् सन् ३०८ ईस्वी में चन्द्रगुप्त ने इस वंश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। इस समय पाटलिपुत्र लिच्छवियों के अधीन था।

इस वंश का इतना विवेचन करने का मतलब यह है कि, इसी वंश की कृपा से भारतवर्ष के इतिहास में एक विशाल साम्राज्य का उदय हुआ। उस साम्राज्य में भारतवर्ष ने बहुत उन्नति की। ऐसे बड़े साम्राज्य का निर्म्माण जिस वंश से हुआ उसका संक्षिप्त इतिहास दे देना इस पुस्तक में आवश्यक था। अस्तु।

दस वर्ष तक राज्य करके प्रथम चन्द्रगुप्त स्वर्गवासी हुए। उनके पश्चात् उनके पुत्र समुद्रगुप्त सिंहासनासीन हुए। उनका विस्तृत हाल आगे दिया जाता है।

वास्तव में देखा जाय तो इस पुस्तक में प्रथम चन्द्रगुप्त का इतिहास लिखने की आवश्यकता न थी। इनके काल में इनका राज्य इतना बड़ा नहीं हो गया था, जो साम्राज्य के नाम से कहा जा सके। अतएव भारत के हिन्दू सम्राटों में इनका नाम नहीं आ सकता। पर चूंकि, इन्हीं के द्वारा गुप्त साम्राज्य के समान महान् साम्राज्य की नींव रक्खी गई, और यही उसके पहले राजा थे, इसलिये संक्षिप्त में इनका विवेचन किये बिना पुस्तक के अधूरी रह जाने का डर था। इसी कारण इनका कुछ विवेचन कर देना बहुत जरूरी था जिससे पाठकों को आगे के सम्राटों का हाल मालूम करने में सुविधा हो।

सम्राट् समुद्रगुप्त

विशाल मौर्य्य साम्राज्य का पतन हुए पश्चात् भारतवर्ष में कई वर्षों तक किसी भी ऐसे प्रतापी वंश का उद्भव नहीं हुआ जिसने अपनी शक्ति के बल से भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त और अशोक की तरह एक छत्री साम्राज्य का दृश्य दिखलाया हो। मौर्य्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच के पाँच सौ छः सौ वर्ष भारतवर्ष के लिए ऐसे ही बीत गये। इस समय में इस देश के अन्दर कई जातियाँ अवतीर्ण हुई, और विलीन भी हो गई, कई सिंहासन जमे, और उखड़ भी गये, जिनका संक्षिप्त इतिहास पूर्व के पाँच छः पृष्ठों में अंकित है। पर इन जातियों में एकाध को छोड़ कर कोई भी व्यक्ति ऐसी नहीं हुई, जो हिन्दू सम्राटों की श्रेणी में स्थान पा सके। इन पाँच सदियों को अतिक्रमण करने के पश्चात् इतिहास फिर एक ऐसे काल में पहुँचता है, जो मौर्य्य काल के ही समान अथवा उससे भी कुछ बढ़ कर महत्वपूर्ण है। यह काल गुप्त साम्राज्य का काल है। जिस प्रकार मौर्य्य साम्राज्य की छाया में रहकर भारतवर्ष ने अपनी उन्नति की थी, उसी प्रकार इस साम्राज्य के सुवर्ण काल में भी उसे फलने फूलने का खूब अवसर मिला।

मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक की तरह गुप्त साम्राज्य के संस्थापक भी चन्द्रगुप्त ही थे। जिस प्रकार मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने पूर्वकाल में साधारण व्यक्ति थे, उसी प्रकार ये चन्द्रगुप्त भी अपने पूर्व काल में बिलकुल साधारण व्यक्ति थे। जिस प्रकार मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने हाथों इतने बड़े साम्राज्य की नींव रक्खी, उसी प्रकार गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त ने भी भारतवर्ष में अपने हाथों इतने बड़े गुप्त साम्राज्य का उद्भव किया। मतलब यह कि, इन दोनों चन्द्रगुप्तों के जीवन में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि, जहाँ मौर्य्य सम्राट् की कुल उन्नति अपने पराक्रम और बुद्धिमता से हुई, वहाँ गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त की उन्नति अपने भाग्य से अथवा यों कहिए लिच्छवि वंश में सम्बन्ध होने के कारण हुई। इसके अतिरिक्त मौर्य्य वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने काल में ही यशस्वी हो चुके थे, उन्होंने अपने ही हाथों से अपने राज्य को साम्राज्य का रूप दे दिया था। पर यह श्रेय गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त को प्राप्त न हो सका। वे अपने हाथों अपने राज्य को साम्राज्य का रूप न दे सके, हाँ, भविष्य में उनके पुत्र समुद्रगुप्त ने उनके राज्य को साम्राज्य संज्ञा से अलंकृत कर दिया। समुद्रगुप्त ने अपने जीवन में इतने युद्ध किये जितने शायद ही किसी सम्राट् ने किये हों। उन्होंने अपने साम्राज्य को बढ़ाने का बहुत प्रयत्न किया। और इसीलिए आज कल के अंग्रेज "भारत का नैपोलियन" नाम से उनका सत्कार करते हैं। इन्होंने अपने काल में भारतवर्ष की बहुत ही उन्नत की। आगे के पृष्ठों पर संक्षिप्त में इन्हीं समुद्रगुप्त का विवेचन किया जाता है।

सम्राट् समुद्रगुप्त और तत्कालीन भारत

सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में अशोक निर्म्मित भारतवर्ष बिलकुल नष्टप्राय हो चुका था। हम ऊपर लिख आये हैं कि, अशोक के पश्चात् और समुद्रगुप्त के पहले भारतवर्ष में कई जातियों के राज्य हुए और बिखर गये। अतएव यह निश्चय है कि भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति में भी कई प्रकार के परिवर्तन होते रहे होंगे। अशोक के पश्चात् भारतवर्ष पर विदेशी जातियों के भी कई आक्रमण हो चुके थे। शक जाति के आक्रमण हो ही चुके थे। यूएहचि की कुशान नामक शाखा का आक्रमण भी भारतवर्ष सहन कर चुका था, और भी छोटी बड़ी कई जातियों के आक्रमण समुद्रगुप्त के पहले इस देश में हो चुके थे और इस कारण देश की राजनैतिक स्थिति बहुत डांवाडोल हो चुकी थी। भारतवर्ष में उस समय छोटे बड़े कई राज्य उत्पन्न हो गये थे। समुद्रगुप्त के समकालीन "हरिषेण" नामक एक कवि हो गये हैं। उन्होंने समुद्रगुप्त के शासन का हाल संस्कृत में इलाहाबाद वाले अशोक के स्तम्भ पर लिखा है। सन् ३८० ई० लगभग यह विवरण एक शिलालेख पर खुदवाया गया था। इस शिलालेख में समुद्रगुप्त के समकालीन राजाओं को छः भागों में विभक्त किया है:—

(१) नौ राजा आर्य्यावर्त के (२) बारह राजा दक्षिण प्रान्त के (३) पांच राज्य सरहद के (४) नौ जातियाँ सरहद की (५) आटविक राज्य और (६) बाकी देशों के

पांच जातियाँ। इन सब को सम्राट् समुद्रगुप्त ने पराजित किया था।

उससे पता चलता है कि उस समय लोगों में एक राष्ट्रीयता की भावना का कुछ २ लोप हो चला था। सारे देश में उस समय "अपनी २ वांसुरी और अपना २ राग" वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो इस बिगड़ी हुई स्थिति को सुधार कर प्रतिभा-पूर्वक सारे देश का संचालन करे। जनता के चरित्र बल में भी उस समय कमज़ोरी आने लग गई थी। इसके अतिरिक्त विदेशी आक्रमणों का भी लोगों को बड़ा डर रहता था। क्योंकि, उस समय देश में सङ्गठन न था, और सङ्गठन के बिना विदेशी शत्रुओं से त्राण पाना बहुत कठिन है। इसी कारण लोग किसी आक्रमण की चर्चा सुनते ही एकदम भयभीत हो जाते थे। तात्पर्य यह कि, राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारत की स्थिति बहुत नाज़ुक हो रही थी। सारे देश को उस समय एक ऐसे पुरुष की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी जो इस स्थिति को सम्हाल कर देश में शान्ति की स्थापना करे। देश के सौभाग्य से तत्काल ही गुप्त साम्राज्य का जन्म हुआ और उस साम्राज्यकाश में समुद्रगुप्त रूपी चंद्रमा दिखलाई पड़ा, जिसने अपने पराक्रम के तेज से देश को एकसूत्र में बाँध दिया। और शासन की शीतल चन्द्रिका से सारे देश में एक जीवित शान्ति का प्रस्तार कर दिया।

धार्मिक अवस्था

पहले की ही तरह सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में भी देश के अंदर बौद्ध धर्म का प्राधान्य था। सारे देश में अधिकांश बौद्ध

ही बौद्ध दिखलाई पड़ते थे। जो लोग बौद्ध नहीं थे उन्हें भी अधिकांश में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को मानना पड़ता था। यहां पर सहज ही में एक प्रश्न हो सकता है वह यह कि, अशोक के पश्चात् देश की राजनैतिक अवस्था में कई परिवर्तन हुए. कई विदेशियों के आक्रमण हुए, कई विदेशियों ने यहां पर राज्य भी किया, शासन नीति को भी बदला, ऐसी घात प्रतिघात युक्त अवस्था में, धार्मिक अवस्था किस प्रकार स्थिर रही, जब कि, राजनैतिक अवस्था के साथ २ धार्मिक अवस्था का परिवर्तित होना भी आवश्यक है। यह प्रश्न अवश्य महत्वपूर्ण है पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जायगा तो यह प्रश्न स्वयं ही हल हो जायगा। यह सत्य है कि, उस समय में देश की राजनैतिक अवस्था बहुत परिवर्तित हुई। कई विदेशियों के आक्रमण भी हुए, कई स्थानों पर उनकी सत्ता भी रही, ऐसी अवस्था में धार्मिक अवस्था में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। पर परिवर्तन न हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि जिन्होंने राजाओं ने इस देश में राज्य किया वे प्रायः सभी किसी अंश में धर्म के पोषक थे, बौद्ध थे। विदेशी जातियों में से भी शक और कुशानवंशीय राजाओं ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था। कुशानवंश के प्रसिद्ध महाराजा कनिष्क भी बौद्धधर्मानुयायी थे। ऐसी हालत में—तमाम राजाओं के स्वधर्मी होने के कारण देश की राजनैतिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहने पर भी धार्मिक नीति में परिवर्तन न होना संभव हो सकता है। क्योंकि, शासन संबंधी विचारों में तो प्रत्येक नृपति का स्वतंत्र होना आवश्यक है, पर धार्मिक विचारों में स्वतंत्र होना बहुत कठिन

है। यही कारण है कि इन शताब्दियों में देश का राजनैतिक आकाश मेघाच्छन्न रहने पर भी धार्मिक आकाश निर्मल ही रहा। बल्कि, विदेशी राजाओं के सधर्मी हो जाने से धार्मिक उन्नति भी बहुत कुछ हुई। सम्राट् अशोक की ही तरह महाराज कनिष्क ने भी विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये कई प्रचारकों को भेजा था।

पर, बौद्ध धर्म का इतना अधिक सम्मान होने से 'इस समय उसमें एक भयंकर दोष उत्पन्न हो गया था। बौद्ध श्रमणों की इतनी प्रतिष्ठा होते देखकर कई स्वार्थी और ढोंगी लोग भी वही प्रतिष्ठा और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये श्रमण वेश धारण करने लग गये थे। ये लोग इस पवित्र वेश की आड़ में मनमाने अत्याचार और व्यभिचार करते थे। ये लोग स्थान २ पर सैकड़ों की तादाद में पाये जाने लगे थे। स्थान २ पर इनके अड्डे बने हुए थे जिनमें बैठ कर ये लोग तरह २ के षड्यन्त्र किया करते थे। कोई पाप ऐसा नहीं रह गया था, जो इन पाखंडियों से सम्पन्न न होता हो। मतलब यह कि, इन पाखंडियों के पाखण्ड से बुद्ध धर्म के समान पवित्र धर्म भी उस समय कलंकित होने लग गया था। वे सब उच्च सिद्धान्त प्रायः नष्ट हो चुके थे जिनको महात्मा बुद्ध ने ईजाद किया था। उनके स्थान पर इन पाखंडियों के द्वारा रचे हुए मनमाने सिद्धान्त प्रचारित होने लग गये थे। जिनके कारण कई निष्पक्षपात लोगों को तत्कालीन बौद्ध धर्म से घृणा होने लग गई थी। वे उसके विरोधी हो गये थे। इधर अवकाश पाकर—वैदिक धर्म का मृतप्राय पौधा पुनः धीरे २ संजीवित हो रहा था। उसके भी अनुयायी बढ़ते जा रहे थे। कई राजा भी

तत्कालीन बौद्ध-धर्म के विरोधी हो चले थे। स्वयं सम्राट् समुद्र-
गुप्त वैदिक मतावलम्बी थे। यही कारण था कि बहुत से बौद्ध
उन हिंदू राजाओं और उनके शासन के विरोधी हो गये थे।
तात्पर्य्य यह कि, उस समय बौद्ध धर्म का प्राधान्य अवश्य था
र उसमें पतन का कीड़ा घुस चुका था।

सम्राट् समुद्रगुप्त का राज्यारोहण

देश की ऐसी नाजुक परिस्थिति के बीच कई ऊँची म-
हात्वाकांक्षाओं को लेकर सम्राट् समुद्रगुप्त ईसवी सन् ३३०
में अपने पिता प्रथम चन्द्रगुप्त के सिंहासन पर आसीन हुए।
समुद्रगुप्त में बहुत से विशेष गुण ऐसे थे, जो सब लोगों में
नहीं पाये जाते। वे एक बहादुर निर्भीक और साहसी
योद्धा थे। अपने ही पराक्रम से उन्होंने चन्द्रगुप्त के छोटे
राज्य को एक महा साम्राज्य के रूप में बदल दिया। उनके
समय के कई सोने चान्दी के सिक्के जो कई प्रकार के हैं हाल
में उपलब्ध हुए हैं। एक सिक्के में वे भाला लेकर बहादुरी
के जोश में खड़े हुए हैं। उस सिक्के पर लिखा है—

"समरशत वितत विजयो जितरिपुरजितोदिवं जयति" अर्थात्
सैकड़ों युद्धों में विजय पानेवाला, शत्रुओं को जीतने वाला और
दूसरों से न जीता जाने वाला महाराज समुद्रगुप्त स्वर्ग को
जीतता है।

एक सिक्के में वे धनुष बाण लेकर खड़े हुए हैं इस पर
लिखा है—

"समुद्रगुप्तो देवो विजिता वनिर प्रति रथो
विजित्य क्षितीम वजित्य।"

सिक्कों पर लिखे हुए इन शब्दों से सहज ही जाना जा सकता है कि, सम्राट् समुद्रगुप्त कितने बड़े योद्धा और रण नीति कुशल थे। उनका सारा जीवन ही युद्धों में एवम् साम्राज्य का विस्तार करने में गया। एक भी युद्ध ऐसा नहीं हुआ जिसमें समुद्रगुप्त पराजित हुए हों।

इसके अतिरिक्त सङ्गीत विद्या में एवं काव्य रचना में भी सम्राट् ने कमाल हासिल किया था। एक प्रकार के सिक्के ऐसे भी उपलब्ध हुए हैं जिनमें सम्राट् समुद्रगुप्त एक आराम पीठ पर बैठे हुए एक प्रकार का वाद्य बजा रहे हैं। नीचे बड़ा बाजठ है, उसके सामने "सि" शब्द लिखा हुआ है। मुद्रा के कोने पर "महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त" ऐसा लिखा हुआ है। मुद्रा की दूसरी बाजू देवी (लक्ष्मी) अपने बायें हाथ में पाश और दाहिने हाथ में रणसिंगा लेकर बैठी हुई है। मुद्रा के कोने पर "समुद्रगुप्त" लिखा हुआ है। कहने का मतलब यह कि वे सङ्गीत विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि, अपने जीवन काल में उन्होंने बहुत से उत्तम २ काव्यों की भी रचना की थी, पर खेद है कि, उनमें से एक भी ग्रन्थ काल के दुर्दान्त पंजे से न बच सका। हरिषेण के शिला-लेख में लिखा है कि नारद तुम्बरु आदि के समान सम्राट् समुद्रगुप्त भी संगीत शास्त्र के ज्ञाता थे।

सम्राट् समुद्रगुप्त बहादुर थे—संगीत विद्या विशारद थे—कवि थे और साथ ही साथ कर्मशील एवम् महत्वाकांक्षाओं से

युक्त थे। यही कारण था कि, उन्होंने अपने जीवन काल में चन्द्रगुप्त और अशोक की ही तरह सफलता प्राप्त की। मौर्य्य युग की ही तरह उन्होंने भी भारत में एक स्वर्णयुग उपस्थित कर दिया।

सम्राट् समुद्रगुप्त की शासन-पद्धति किस प्रकार की थी, उनकी नीति किस ढङ्ग की थी, आदि प्रश्नों के उत्तर में इतिहास अभी तक चुप है। उनके समय में न तो कोई ऐसा विदेशी यात्री आया, जिसने अपने विवरण में ये बातें लिखी हों और न कोई दूसरे प्रमाण ही उपलब्ध हैं। केवल दो, तीन, शिलालेख और कुछ सिक्के ऐसे उपलब्ध हुए हैं जिनसे उनके जीवन का, और उनके शासन का कुछ पता चलता है। नीचे लिखे शिलालेख आदि अभी तक उपलब्ध हुए हैं।

(१) हरिषेण कवि का शिलालेख—यह शिलालेख समुद्रगुप्त के जीवित काल में ही खुदवाया गया था। प्रयाग से पश्चिम दिशा में चौदह कोस पर कौशाम्बी नगर में यह लेख मिला है जहां से वह स्तम्भ लाकर इलाहाबाद के किले में खड़ा किया गया है। समुद्रगुप्त से सम्बन्ध रखने वाली इसमें ३३ पंक्तियां हैं जिन में से १६ कवितायें और शेष गद्य हैं।

(२) मध्यप्रान्त के सागर जिले में बीना नदी के किनारे पर "एरण" नामक एक ग्राम है, यहां पर सन् [illegible] में लाल रङ्ग का एक चौकोर पत्थर प्राप्त हुआ है। यह पत्थर इस समय कलकत्ता के अजायबघर में रक्खा गया है। इस पत्थर पर समुद्रगुप्त के नाम का एक शिलालेख खुदा हुआ है।

(३) बिहार के गया शहर में सन् १८८३ में एक ताम्र† पत्र, मिला है। यह भी समुद्रगुप्त के नाम का है। ईस्वी सन् ३२९ की वैशाख मास की दसवीं तिथि में सम्राट् ने "रेवतिका" नामक ग्राम किसी ब्राह्मण को दान किया था। उसी का यह ताम्रपत्र है। इस ताम्रपत्र में समुद्रगुप्त की सारी वंशावली अङ्कित है। सम्पूर्ण ताम्रपत्र संस्कृत गद्य में लिखा हुआ है—

उपरोक्त आधारों के बल पर समुद्रगुप्त के राज्यशासन पर जितना भी प्रकाश पड़ सकता है, उतना डालने की हम आगे कोशिश करेंगे।

सम्राट् समुद्रगुप्त की चढ़ाइयां

हरिषेण कवि ने अपने लेख में सम्राट् समुद्रगुप्त की चढ़ाइयों का वर्णन किया है। पाठकों की जानकारी के निमित्त हम हरिषेण कवि का वह शिलालेख ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत कर देते हैं। उसमें शुरु २ के करीब १५ श्लोकों का कुछ अंश नष्ट हो गया है। इसलिये उनको छोड़कर १६ वें पद्य से हमारा उद्धरण प्रारम्भ होता है।

(१६) अध्येयः सूक्तमार्थः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं को नु स्याद्यो स न स्याद्गुणामतिविदुषां ध्यान पात्रं य एकः।

(१७) तस्य विविध समरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबंधोः—पराक्रमांकस्य परशु शरशंकुशक्तिप्रासासितोमर

(१८) भिण्डिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढा कुल व्रण शताङ्क शोभासमुदयोपचित कांततरवर्ष्मणः।।

† यह ताम्रपत्र जाली है।

(१९) कौशलक महेन्द्र महाकांतारक व्याघ्रराज कौरालक मंटराज पष्टेपुरक महेन्द्र गिरिकौट्टूरक स्वामिदत्तैरंड पल्लदमन कांचे-यक विष्णु गोपावमुक्तक—

(२०) नीलराज वैंगेयक हस्तिवर्म्मा पालक्क उग्रसेन दैवराष्ट्रक कुबेर कौस्थल पुरक धनंजय प्रभृति सर्व दक्षिणापथ राजग्रहण मोक्षानुग्रह जनित प्रतापोन्मिश्र महाभागस्य

(२१) रुद्रदत्त मतिल नागदत्त चन्द्रवर्म्मा गणपति नाग नागसेनाच्युत नन्दिबल वर्म्माद्यनेक आर्य्यावर्त राजप्रसभोद्धरणो द्वृत प्रभावमहत: परिचारकी कृत सर्व्वाटविक राजस्य

(२२) समतट डवाक कामरूप नेपाल कर्तृपुरादि प्रत्यंत नृपतिभिर्मालवार्जुनाय नयौधेयमाद्रका भीर प्रार्जुन सनकानीका काकखर परिकादिभिश्च सर्वकर दानाज्ञा करण प्रणामागमन—

(२३) परितोषित प्रचण्ड शासनस्य अनेकभ्रष्ट राज्योत्सन्न राजवंश प्रतिष्ठापनोद्भूत-निखिलभुवन विचरणशान्तयशस: दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि शकमुरुण्डै: सैंहल कादिभिश्च ।

(२४) सर्व्वद्वीप वासिभिरात्म निवेदन कन्योपायन दान गरुत्मदङ्क स्वविषय भुक्ति शासन याचनाद्युपाय सेवाकृत बाहुवीर्य प्रसरधरणि बन्धस्य पृथिव्यामप्रतिरथस्य ।

(२५) सुचरित शतालंकृतानेक गुणगणोत्सिक्तिभिश्चरणतल प्रमृष्टान्य नरपति कीर्ते:-साध्व साधूदय प्रलयहेतु पुरुषस्य चिन्त्य-स्य भक्त्यवनति मात्रग्राह्य मृदुहृदय स्यानुकम्पावतोऽनेक गोशत सहस्र प्रदायिन:

(२६) कृपण दीनानाथ आतुरजनोद्धरण (म) न्त्रदीक्षाभ्युप-गत मनस: समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तक

समस्य स्वभुजवल विजितानेक नरपति विभव प्रत्यर्पणानित्य व्यापृता युक्त पुरुषस्य

(२७) निपित विदग्ध मति गांधर्व ललितैर्व्रीडित त्रिदशपति गुरुतुम्बुरुनारदादेविद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्य क्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराजशब्दस्य सुचिरस्तोत व्यानेकाद्भूतोदार चरितस्य ।

(२८) लोकसमय क्रियानुफानमात्र मानुषस्य लोक धाम्नो देवस्य महाराज श्रीगुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य

(२९) लिच्छवि दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्या मुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य सर्व्वपृथिवी विजय जनितोदय व्याप्त निखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशायगी

(३०) भवनगमनावाप्त ललित सुखविचरणा मात्त्वाण इव भुवो वहुरय मुच्छ्रितः स्तम्भयस्य । प्रदानभुजविक्रम प्रशमशास्त्र वाक्योदयैरुपर्युपरिसञ्चयोच्छ्रितमनेक मार्गयशः

(३१) पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा निरोध परिमोक्ष शीघ्रमिव पाण्डुगाङ्गय । एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारक पापानां दासस्य समपि परिसर्पण नुग्रहोन्मीलित मतेः ।

(३२) खाघट पाकिकस्य महादण्ड नायक ध्रुवभूति पुत्रस्य सन्धि विग्रहहिक कुमारामात्यमक हरिषेणस्य सर्व्वभूतहित सुखायास्तु ।

इस लेख से पता चलता है कि, हरिषेण कवि ने टसम्राट् समुद्रगुप्त की चढ़ाइयों को छः भागों में विभक्त कर दिया है । यथा—

समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त (नर्मदा नदी के उत्तर का हिन्दुस्थान)

के तमाम राजाओं को निकाल दिया। इन सब राजाओं में से कवि ने उपरोक्त शिलालेख में नौ राजाओं के नामों का उल्लेख किया है। (१) रुद्रदेव (२) मतिल (३) नागदत्त (४) चन्द्रवर्मन (५) गणपतिनाग (६) नागसेन (७) अच्युत (८) नन्दिन (९) बलवर्मन। इन नौ राजाओं में रुद्रदेव, मतिल, नन्दिन और बलवर्मन, इन चार राजाओं का इतिहास अभी तक उपलब्ध न हुआ। शेष पांच राजाओं में से गणपतिनाग नागवंश में उत्पन्न हुआ था। इस वंश की राजधानी ग्वालियर और झांसी के बीच में पद्मावती (नेहोवा) नामक नगरी में थी। नागदत्त दत्तवंश में उत्पन्न हुआ था। शायद रामदत्त और पुरुषदत्त भी इसी के वंश में हुए होंगे। इन लोगों के सिक्के देखने में क्षत्रप लोगों के सिक्कों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। नागसेन सेनवंश का राजा था। इस वंश में पहले वीरसेन नामक एक और प्रसिद्ध राजा हो गया है। इस वंश के सिक्के वायव्य प्रान्तों में बहुतायत से मिलते हैं। अच्युत अहिच्छत्र का राजा था। बरेली प्रान्त में आंवला के पास जो रामनगर बसा हुआ है, इसी को प्राचीन काल में अहिच्छत्र कहते थे। इसको सम्राट् समुद्रगुप्त ने परास्त कर अपने आधीन किया था।

(२) समुद्रगुप्त के विजय किये हुए राजाओं के किये हुए छः विभागों में दूसरे विभाग के अन्दर कवि ने आटविक राजाओं को गिनाया है। वे लिखते हैं कि आटविक देशों के सब राजाओं को सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपना नौकर बना लिया। आटविक देश से कवि का मतलब शायद बुन्देलखण्ड, गोंडवाना आदि देशों से

होगा। क्योंकि नर्मदा के उत्तर बुन्देलखण्ड और गौंड़ादि में अभी भी बहुत भयङ्कर अरण्य है।

(३) तीसरे विभाग का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं कि, "दक्षिण के अनेक राजाओं को पकड़ २ कर सम्राट् ने छोड़ दिया। उनमें से कौशल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, करेल के मन्तराज, पिष्टपुर के महेन्द्रगिरी, कोट्टुर के स्वामिदत्त, एरण्डपल्ल के दमन, कांची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्मन, पालक्क के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुवेर, कुस्थलपुर के धनञ्जय आदि लोगों के नाम कवि ने बतलाए हैं—

(४) सरहद के पांच राजाओं से सम्राट् समुद्रगुप्त ने सम्मान और कर प्राप्त किया था। इन पांच राजाओं के राज्यों के नाम ये हैं। (१) समतट (२) दृपाक (३) कामरूप (४) नैपाल (५) कर्तृपुर।

समतट से कवि का मतलब उसी प्रान्त से है जिसमें आजकल कलकत्ता और ढाका बसे हुए हैं। दवाक से शायद् दिनाजपुर के आसपास के प्रान्त का मतलब हो। कामरूप शब्द् आसाम के कुछ अंश के लिए प्रयुक्त किया होगा। नैपाल के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। कर्तृपुर का अभीतक कुछ पता नहीं लगा। पर कुछ ऐतिहासिक लोग अल्मोड़ा, गढवाल, कुमाऊं आदि विभाग को कर्तृपुर के लिए सन्देह करते हैं।

(५) पांचवें विभाग में कवि ने उन जातियों के नाम दिये हैं, जो सरहद पर बसती थीं, और जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया था।—मालव, अर्जुनायन, यौद्धेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन,

सनकानिक, काक खरपरिक आदि नौ जातियों की नामावली कवि ने अपने लेख में बतलाई है।

(६) दूर देशों में बसने वाली पांच जातियों से एवं सिंहल द्वीप निवासियों से सम्राट् ने सम्मान और सेवाएं ग्रहण की थीं। इन पांच जातियों का अलग २ वर्णन करते हुए शिलालेख में उन्होंने यह भी लिखा है कि, समुद्रगुप्त को देवपुत्रों ने, शाहियों ने, शाहानुशाहियों ने, शकों ने, मरुण्डों ने तथा सिंहलों ने भी सिर झुकाया था।

उपरोक्त उदाहरणों को उद्धृत करने का मतलब यह है कि, हम लोग समुद्रगुप्त के राज्य का अनुमान कर सकें। वास्तव में देखा जाय तो समुद्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार मौर्य साम्राज्य से भी कुछ अधिक हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी समुद्रगुप्त ने बहुत कर लिया था। कई देशों में उसके दूत आते जाते थे। सिंहलद्वीप से भी समुद्रगुप्त का सम्बन्ध सन् ३६० में हो गया था। सिंहलद्वीप के तत्कालीन राजा का नाम मेघवर्ण था। वह बुद्धधर्म्म का उपासक था। उसने बुद्धगया का दर्शन करने के लिए अपने यहां से दो संन्यासियों को भेजा था। सम्राट् समुद्रगुप्त वैष्णव मतावलम्बी थे, अतः सम्भव है उस समय बुद्धगया में अतिथि सत्कार का उचित प्रबन्ध न होगा। ये दोनों संन्यासी इस अप्रबन्ध से नाराज होकर वापस सिंहल गये और वहां के राजा से यह सब हाल कहा। मेघवर्ण ने यह संवाद सुन कर उस स्थान पर एक मठ बनवाने का विचार किया। उसने कुछ लोगों के साथ बहुत सा धन समुद्रगुप्त के दरबार में भेजा, और आज्ञापत्र में मठ बनवाने की आज्ञा मांगी। समुद्र,

ने प्रसन्न चित्त होकर उन्हें आज्ञा दी। तत्काल ही बुद्धगया के समीप उसने एक बड़ा सुन्दर और मजबूत मठ बनवाया। आज वह सुन्दर मठ काल के अनन्त गाल में विश्राम कर रहा है।

समुद्रगुप्त ने अपने ४५ वर्ष के राज्यकाल में अपनी सत्ता का इतना विस्तार किया। हिमालय से लेकर नर्मदा के दक्षिण तक और हुगली से लेकर चम्बल तक उसके राज्य का विस्तार हो गया था। अतिरिक्त इसके आसाम और हिमालय के दक्षिण भाग के राज्यों ने एवं मालवा और राजपूताने की जातियों ने भी उसके आधिपत्य को स्वीकार किया था। उत्तर-हिन्द के नौ राज्यों, विन्ध्य-पर्वत-वासिनी जातियों, और दक्षिण-हिन्द के बारह राज्यों ने भी उसे सम्राट् स्वीकार किया था।

इतना सार्वभौम साम्राज्य स्थापित कर लेने के पश्चात् प्राचीन नियमानुसार समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया। शीघ्र ही एक अश्व की पूजा वगैरह करके उसे छोड़ा। साल भर तक सारे हिन्दुस्थान में वह अश्व विचरण करता रहा। जब किसी ने उसको नहीं पकड़ा, तब आनन्दपूर्वक यज्ञ को समाप्त किया। उस यज्ञ में लाखों सोने के सिक्के ब्राह्मणों को बांटे गये थे। उनमें से कुछ सिक्के अभी प्राप्त हुए हैं। उन सिक्कों में एक ओर रानी दाहिने हाथ में चंवर लिये हुए खड़ी है, उस स्थान पर ब्राह्मी अक्षरों में लिखा है "अश्वमेध पराक्रमः" दूसरी ओर अश्वमेध यज्ञ का अश्व अश्वयूप के साथ बन्धा हुआ है उसके पास लिखा है—

"राजाधिराजः पृथिवीं विजित्य दिवं जयत्यप्रतिवार्य वीर्यः"

इस मुद्रा का वज़न १६ माशे के करीब है। अश्वमेधचक्र का काल अनुमानतः ईस्वी सन् ३७० बतलाया जाता है।

समुद्रगुप्त का शासन

यह बात पहले लिखो जा चुकी है कि, सम्राट् समुद्रगुप्त पूर्व सम्राटों की तरह बौद्धमतावम्बी नहीं थे। उन्होंने वैष्णव धर्म्म अंगीकार किया था। फिर भी उनकी शासननीति में किसी भी प्रकार का धार्मिक भेदाभेद नहीं पाया जाता था। उनकी शासननीति भी यद्यपि चन्द्रगुप्त और अशोक की ही तरह सुदृढ़ थी, तथापि उनके काल में बहुत से षड्यन्त्र बड़े गुप्तरूप से चला करते थे। खास करके अधिकतर षड्यन्त्र पाखण्डी बौद्ध-भिक्षुओं के कारण ही हुआ करते थे। इतना होने पर भी उनके सुसङ्गठित शासन में प्रजा के अंदर पूर्ण शान्ति थी। चन्द्रगुप्त की ही तरह उन्होंने भी सारे देश को एक सूत्र में बांध दिया था; जिससे देश में एक सङ्गठित शक्ति नज़र आने लगी थी।

सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में राज्य-अमात्यों की बहुत ही इज़्ज़त थी। उस समय राज्याधिकारियों के पीछे जो विशेषण लगाये जाते थे, उन्हें हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

सम्राट्—परम वैष्णव परम माहेश्वर परम भट्टारक, महाराजाधिराज।

प्रधान सेनापति—"महा बलाधि कृत"

प्रधान न्यायाधीश—"महादण्ड नायक"

प्रधान धर्माधिकारी—"महाधर्माधिकृत"

इत्यादि। ये सब अधिकारी लोग गुप्त संरक्षागृह में रा

सकते थे। कहा जाता है कि जिस समय कोई गुप्त बात पर विचार करना होता था उस समय नियत मंत्रणागृह में ये लोग एकत्रित हो जाते थे। मंत्रणागृह के आस पास गूँगे और बहरे सैनिकों का पहरा लगता था। वे लोग किसी भी व्यक्ति को वहां नहीं आने देते थे। इसके अतिरिक्त वे स्वयं भी कुछ सुन और समझ सकने में असमर्थ थे। इस कारण वहां पर की हुई मंत्रणा बहुत दिनों तक प्रकाश में नहीं आती थी।

इसके अतिरिक्त उस समय भी कई प्रकार के भिन्न २ विभाग थे; जिन पर भिन्न २ कर्म्मचारी नियुक्त रहते थे। पर उस सबका सिलसिलेवार वर्णन अभी तक नहीं मिलता। हां, समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन का सूत्रबद्ध वर्णन फाहियान की यात्रा से संग्रहित हो सकता है। उसका विवेचन हम अगले अध्याय में कर सकेंगे।

सम्राट् समुद्रगुप्त का स्वर्गवास

अन्त में करीब ५० वर्ष तक राज्य करके गुप्त साम्राज्य का यह उज्वल नक्षत्र सन् ३८० में टूट गया।

मनुष्य अपने चरित्र, अपनी महत्वाकांक्षा, अपने साहस और अपनी बुद्धिमानी के द्वारा कितना ऊँचा उठ सकता है इसका उत्तम उदाहरण सम्राट् समुद्रगुप्त का जीवन है। समुद्रगुप्त के जीवन के द्वारा इतिहास अकर्म्मण्य और निराशावादी लोगों को उलाहना दे रहा है।

सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त

भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास में सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाम-जिनका उपनाम विक्रमादित्य भी था बड़े गौरव-पूर्ण शब्दों में लिखा जाता है। आजकल के हिंदू समाज में भी विक्रमादित्य के विषय में सैकड़ों दन्त कथाएँ कही जाती हैं। क्या शिक्षितों में और क्या अशिक्षितों में जितना अधिक नाम विक्रमादित्य का प्रचलित है उतना शायद किसी दूसरे सम्राट् का नहीं है। विक्रमादित्य के नाम का संवत्-जो कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है—आज भी भारत के प्रत्येक घर में माना जाता है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का काल-निर्णय

आधुनिक पुरातत्ववेत्ताओं में विक्रमादित्य के कालनिर्णय के विषय में बड़ा मतभेद चल रहा है। विक्रम संवत् ईसा के सत्तावन वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। इस हिसाब से विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य का काल अवश्य इसके आसपास का होना चाहिए। पर पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि उस समय का कोई भी शिलालेख व ताम्रपत्र ऐसा नहीं मिलता जिसमें विक्रमादित्य का उल्लेख हो। सबसे पहले डाक्टर फ्लीटने

ने इस विषय में एक लेख प्रकाशित किया जो "इंडियन एएटेकेरी" के कई अंकों में लगातार प्रकाशित हुआ। उन्होंने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि, यह संवत् पहले "मालवसंवत्" के नाम से प्रसिद्ध था, पर पीछे से ईसा की छठवीं शताव्दी में तत्कालीन राजा यशोधर्मा ने हूणों को पराजित कर उस विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर इस संवत् का नाम विक्रम संवत् कर दिया। इसी प्रकार फ्लीट, हार्नेले, बूलर, फ़र्ग्यूसन आदि विद्वानों ने भी इस संवत् पर नाना प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। पर रायवहादुर सी० वी० चिंतामणि ने बड़े ही प्रवल प्रमाणों के द्वारा इन सब कल्पनाओं का खण्डन कर यह सिद्ध कर दिया है कि, ईसा के ५७ वर्ष पूर्व भी यहां पर विक्रमादित्य नामक राजा राज्य करता था और उसने तक्षशिला और मथुराके क्षत्रपों (शकों) को वड़ी भारी हार देकर शकारि की उपाधि धारण की और उसी उपलक्ष्य में अपना संवत् भी प्रचलित किया। यद्यपि चिन्तामणि महोदय का यह लेख बहुत प्रबल युक्तियों से परिपूर्ण है तथापि अभी तक यह सर्वमान्य नहीं हुआ है। अभी तक जो मत सर्वमान्य है वह यही है कि, गुप्त वंशीय राजा चन्द्रगुप्त ने ही विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की, और उसीने पहले से चलते आये हुए मालव संवत् को अपना नाम दिया। एवं संसार प्रसिद्ध महाकवि कालिदास भी इसी के समय में मौजूद था। जो कुछ हो, यहां पर हम भी इसी प्रचलित मत के अनुसार द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही कालिदास का समकालीन विक्रमादित्य मानकर आगे की पंक्तियां लिखेंगे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण

सम्राट् समुद्रगुप्त का स्वर्गारोहण होने के पश्चात् लगभग सन् ३७५ ईस्वी में उनकी दत्तदेवी नामक सम्राज्ञी से उत्पन्न सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुए। चन्द्रगुप्त समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र न थे। लेकिन राज्यकार्य्य में दक्ष होने के कारण सम्राट् समुद्रगुप्त ने इन्हें ही युवराज चुना था। समुद्रगुप्त का यह चुनाव भविष्य में भारतवर्ष के लिए बहुत ही फल-प्रद हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने राज्य सिंहासन पर बैठकर मालवा, राजपूताना गुजरात काठियावाड़ और सिन्ध तक को जीता। शक जाति के साथ उनका बहुत भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें सम्राट् चन्द्रगुप्त ने शकों को बहुत ही बुरी तरह से पराजित किया। शकों का अन्तिम राजा रुद्रसिंह जो पहले सिरे का व्यभिचारी और चरित्र हीन था, चन्द्रगुप्त के साथ युद्ध करते हुए—सन् ३९० के लगभग मारा गया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध

अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य की सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रम के समय में बहुत अधिक उन्नति हुई। उस जमाने में उज्जैन व्यापार का एक प्रधान केन्द्रस्थल माना जाता था। पश्चिमी तट के प्रायः सभी बन्दरगाहों से उसका व्यापारिक संबंध था। चन्द्रगुप्त के राज्य में उज्जैन के सम्मिलित हो जाने से सारा साम्राज्य बहुत समृद्ध होने लग गया था। जावा, सुमात्रा में भी व्यापारिक संबंध जारी था। व्यापारिक सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा प्रकार

के सम्बन्ध भी चन्द्रगुप्त के समय में जारी हो गये थे। जिनमें विचार–विनिमय का सम्बन्ध बहुत प्रचुरता से होता था। भारत-वर्षीय हिंदू सम्राटों के इतिहास में सम्भवतः यह पहला ही अवसर था जब कि, भारतवर्ष और दूसरे देशों के बीच में स्वतंत्रता पूर्वक बड़े २ विद्वान पर्य्यटकों के विचारों का विनिमय हुआ हो, सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यहां से प्रसिद्ध विद्वान पर्य्यटक "कुमारजीव" को सन् ३८३ में चीन भेजा। इसके सिवाय भी समय २ पर यहां से कई लोग व्यापार और विचार विनिमय के लिए चीन और दूसरे देशों में गये। इसी प्रकार दूसरे देशों के पर्य्यटक भी इस देश में व्यापार करने अथवा धार्मिक शिक्षा को ग्रहण करने के लिए आये, जिसमें चीनी यात्री फाहियान का नाम विशेष प्रसिद्ध है। यह वह समय था जिसमें सारे संसार के अन्तर्गत भारतीय सभ्यता का जयजयकार हो रहा था। जावा, सुमात्रा और बोर्नियो आदि में भी उस समय भारतीय सभ्यता का डंका बज रहा था। वहां के अधिवासियों ने न केवल बौद्ध धर्म को ही ग्रहण किया प्रत्युत यहां की बहुत सी शिल्प और ललित कलाओं को भी अपने देशों में प्रचारित किया था।

रोम के साथ भी उस समय भारतवर्ष का व्यापार जोरों से चल रहा था। कुछ समय हुआ दक्षिण में बहुत सी रोमन स्वर्ण मुद्राएं उस समय की मिली हैं। इनसे पता चलता है कि, उस समय रोम और भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बहुत ही गहरा था। और बाहर से बहुतसा द्रव्य सिक्कों के रूप में यहां पर आता था।

साहित्य की उन्नति

यद्यपि सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के पहले भी भारतवर्ष के अन्दर कई सम्राट् ऐसे हो गये हैं जिन्होंने अपने अलौकिक सुकृत्यों से संसार के इतिहास में नाम कमाया है, और जिनके काल में भारतवर्ष ने सभी विषयों में आशातीत तरक्की की थी। पर, इतना होने पर सम्भवतः दूसरे विषयों की तरह इन सम्राटों के काल में साहित्य की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। यद्यपि बौद्धों के प्रचुर साहित्य ने उस समय भी बहुत तरक्की करली थी, तथापि वह प्रसिद्ध साहित्य जो आज भी संसार की आंखों में चकाचौंधी पैदा कर रहा है, गुप्तवंशी सम्राटों के समय में ही निर्मित हुआ था। गुप्त राजाओं के शासन काल में यहां के साहित्य, विज्ञान और शिल्प कलाओंने आशातीत उन्नति की। इसीलिए भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त राजाओं का काल, यूनान के इतिहास में पैरोक्लीज के काल के समान माना जाता है।

जिस कालिदास को आजकल के विद्वान भारतवर्ष का शेक्सपीयर कहकर सम्बोधन करते हैं, जिस कालिदास को लोग कविकुल गुरु की उपाधि से अलंकृत करते हैं, जिस कालिदास की रचनाओं को देखकर आज भी यूरोप के विद्वान दांतों तले उँगली दबाते हैं और जिस कालिदास के निर्माण किये हुए शकुन्तला नाटक का अध्ययन कर जर्मन महाकवि गेटे नाच उठते हैं उस महाकवि कालिदास का अस्तित्व भी द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में ही माना जाता है। इसी काल में गणित शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र की भी चरमोन्नति हुई। कहने का मतलब यह कि, साहित्यिक दृष्टि से भारतवर्ष के इतिहास में चन्द्रगुप्त

-का काल अद्वितीय है। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त अद्भुत विद्या प्रेमी थे। वे कवियों का अत्यन्त सत्कार करते थे। कहा जाता है कि उनकी सभा में कालिदासादिक नौरत्न हमेशा उपस्थित रहते थे जिनका सहस्त्रों रुपयों का व्यय उन्हें उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त बाहर के दूसरे विद्वान भी उनके कोप से अपनी वृत्तियों के बदले में लाखों रुपये पाते थे।

इसके अतिरिक्त सङ्गीत, स्थापत्य, चित्र और आलेख्य विद्याओं ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। यद्यपि दुष्ट काल के कुचक्र में पड़कर उस समय की बहुतसी कारीगरी नष्ट भ्रष्ट हा चुकी है, फिर भी जो कुछ इस समय प्राप्त है वह उस समय के गौरव की सूचना दे रहा है। देवगढ़ के मन्दिर की चित्रकारी आज भी दर्शकों के मन मुग्ध कर देती है। सुलतानगंज की मूर्ति जो उंचाई में साढ़े सात फुट है और अब बिमदीम के अजायबघर की शोभा बढ़ा रही है द्वितीय चन्द्र-गुप्त के समय में बनवाई गई थी। अजन्ता की गुफाओं के आलोक और चित्रकारी-जो चंद्रगुप्त के राज्यकाल के समय के आस पास में बनाई गई थी—भी इतनी उच्चकोटि की है कि संसार के दूर २ देशों के चित्रकार उन्हें देखने के लिये आते हैंऔर मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। मतलब यह कि, द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में भारत के साहित्य, विज्ञान और ललित कलाओं ने अद्भुत उन्नति की थी।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में धार्मिक स्थिति।

सम्राट् समुद्रगुप्त की जीवनी में हम लिख आए हैं कि गुप्तवंशी सभी सम्राट् वैष्णव धर्मावलम्बी थे। पर वैष्णव मता-

वलम्बी होने पर भी-इन लोगों की दूसरे धर्मों के साथ कोई शत्रुता न थी। सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में भी समुद्रगुप्त के समय की ही तरह यद्यपि बौद्ध धर्म का ही प्राधान्य था, तथापि वैदिक धर्म्म भी इस समय बहुत शीघ्रता के साथ उन्नति कर रहा था। वैदिक धर्म्म की इस उन्नति का एक बहुत ही गूढ़ कारण था। वह यह कि, वैदिक धर्म्म ने दबे छुपे बौद्ध-धर्म्म के प्रायः उन सभी लोकप्रिय सिद्धांतों को अङ्गीकार कर लिया था जिन्हें जनता बहुत चाहती थी। यहां तक कि, वेद धर्मावलम्बी लोग स्वयं बुद्धदेव को ही परमात्मा का एक अवतार मानने लग गये थे। फल यह हुआ कि, वैदिक धर्म्म में सभी लोकप्रिय सिद्धान्तों के आजाने से जनता की रुचि उस धर्म्म की ओर प्रवृत होने लगी। जिससे बौद्ध-धर्म्म का अवपात और वैदिक धर्म्म का पुनरुदय होने लगा।

जीवन निर्वाह की सुलभता।

सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय के कुछ लेख ऐसे भी मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि, उस समय के साधारण जीवन निर्वाह में कितना व्यय होता था।

इस ढङ्ग का एक लेख गढ़वा से मिला है। इससे पता चलता है कि, उस समय दस 'दीनारों' के ब्याज से एक ब्राह्मण का प्रति दिन का व्यय चल सकता था।

इसके अतिरिक्त गुप्त संवत् ९३ अर्थात् ईस्वी संवत् ४१२ का एक लेख इस आशय का मिला है।

"पांचवीसी अर्थात् सौ दीनारें दी जाती हैं। उनमें से आधी दीनारों से महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त के सब गुणों की पूर्त्ति के निमित्त जब तक सूर्य्य और चन्द्रमा रहें तब तक पांच भिक्षु भोजन करते रहें। और बुद्ध भगवान् के रत्नगृह में एक दीपक जले। तथा बाकी की आधी अर्थात् शेष ५० दीनारों से भी पांच भिक्षु भोजन करें। और रत्नगृह में दीपक जले।

इससे पता चलता है कि, दस दीनारों के व्याज से जो प्राप्ति होती थी, उससे एक भिक्षुक का भोजन खर्च मजे में चल सकता था। अब प्रश्न यह होता है कि उस समय व्याज की दर क्या थी? पण्डित हरि रामचन्द्र दिवेकर ने दक्षिण के शालिवाहन लोगों के शिलालेखों के आधार से सिद्ध किया है कि, उस काल में व्याज की दर ५) से ७॥) तक प्रतिशत के हिसाब से थी। अतः औसतन यदि हम ६) प्रतिशत व्याज की दर मान लें, तो यह सिद्ध होता है कि, दो आदमियों के एक साल के भोजन और दो दीपकों के एक साल के तैल का मूल्य छः "दीनार" था। अब हमें देखना यह है कि, दीनार का उस समय क्या मूल्य था। उस समय की दीनार में करीब आठ मासे सोना रहता था, और एक तोला सोने के बदले में उस समय १० तोला चान्दी आती थी। इस हिसाब से छः दीनारों के बदले में करीब ४० तोला चान्दी होती है। अब हम यदि प्रत्येक व्यक्ति के नित्य के भोजन में कम से कम आध सेर आटा, और छटांक भर घी ही समझलें तो दो मनुष्यों के लिए साल भर में नौ मन आटा, पैंतालीस सेर घृत, और सवा दो मन दाल होती है। सइके अतिरिक्त यदि हम प्रत्येक दीपक में आध पाव तेल का

प्रतिदिन जलना मानलें तो करीब ढाई मन तेल भी होना चाहिए। इस प्रकार कम से कम—

४० तोला चान्दी के बदले में	नौ मन गेहूँ, पैंतालीस सेर घी ढाई मन तेल और सवा दो मन दाल आती थी।

सम्भव है यह हिसाब गलत भी हो। क्योंकि, यह केवल हमारा क्षुद्र अनुमान है। एक लेखक ने उपरोक्त लेखों से ही हिसाब लगाकर सिद्ध किया है कि, उस समय ।=)॥ का मन तेल आता था।

कुछ भी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि, उस समय जीवन की आवश्यक सामग्रियाँ बहुत ही सुलभ थीं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन

सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासनकाल भारतवर्ष के लिए बहुत मधुर था। सम्राट् समुद्रगुप्त और अशोक की अपेक्षा भी इस समय के शासनकाल में बहुत मधुरता आगई थी। चारों ओर शान्ति छाई हुई थी, न कोई किसी पर अत्याचार करता था। न कोई किसी के अत्याचार सहता था। अपराधों की संख्या मौर्य्य कालीन समय से भी अब बहुत घट गई थी। सब से बड़ी विशेषता जो इस काल की शासन नीति में हुई वह यह थी कि, मौर्य्य साम्राज्य की अपेक्षा गुप्त साम्राज्य का दण्ड विधान बहुत ही कोमल हो गया था। अब उन भयङ्कर दण्डों में से एक का भी उपयोग नहीं किया जाता था जो मौर्य्य साम्राज्य के समय में प्रयुक्त होते थे। दण्डविधान भी इस

कोमलता के लिए गुप्त साम्राज्य की प्रशंसा करते हुए एक प्रसिद्ध इतिहास लेखक लिखते हैं—

"ऐसा प्रतीत होता है कि, इस विषय में गुप्तवंश पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। जिस बात का कलङ्क अशोक के समान कोमल हृदय, दयावान और लोकप्रिय शासक पर भी रह गया था उसको गुप्त राजाओं ने दूर कर दिया। जो राज्य प्रजा की बातों में बहुत अधिक हस्तक्षेप करता है वह कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकता। लोगों को दीर्घ काल के लिए वन्दी रखना अथवा मृत्यु दण्ड देना सभ्यता का चिह्न नहीं। इस दृष्टि से गुप्त राजाओं का शासनकाल भारतवर्ष में सब से उत्तम और अनुकरणीय काल हो चुका है। इतना कोमल दण्डविधान होने पर भी देश का प्रवन्ध उतना ही उत्तम था जितना मौर्य्य काल में।"

फ़ाहियान की भारतयात्रा

हम ऊपर लिख आए हैं कि, सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में कई चीनी पर्यटक भारतवर्ष में आये थे। उनमें से फ़ाहियान का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है। उसने अपनी यात्रा के वर्णन में एक ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि इस ग्रन्थ में धार्मिक भाव और दन्त कथाएं अधिकतर हैं, फ़िर भी उससे भारत की तत्कालीन परिस्थिति को जानने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इसी ग्रन्थ के आधार पर हम संक्षिप्त में उसकी यात्रा का विवरण देते हुए तत्कालीन भारत की परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

ईस्वी सन् ४०० में फ़ाहियान ने "विनय पिटक" (बौद्ध ग्रन्थ) की खोज करने के निमित्त भारतवर्ष की यात्रा की। वह अपना यात्रा-विवरण उद्यान जनपद से प्रारम्भ करता है। उद्यान जनपद सम्भवतः काबुल के आस पास के प्रान्त को कहते हैं। फ़ाहियान उद्यान को उत्तरी भारत का देश कहता है। वह लिखता है "यहाँ के लोग मध्य हिन्दुस्थान की भाषा बोलते हैं। साधारण जनता का खान, पान, मध्य देश का सा ही है। सामान्यतः सर्वत्र बौद्ध धर्म्म का प्रभुत्व है। श्रमणों के रहने के स्थान को "संघाराम" कहते हैं। यहाँ बौद्ध भिक्षुओं के पाँच सौ संघाराम है, सबके सब हीनयानानुयायियों के हैं। अतिथि भिक्षुओं को यहाँ पर तीन दिन तक मुफ़्त भोजन दिया जाता है" यहाँ से चलकर हमारा यात्री स्वात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पुरुषपुर अर्थात् पेशावर पहुँचता है। यहाँ पर वह कनिष्क द्वारा निर्मित ऊँचा बौद्ध स्तूप देखकर आश्चर्य्य चकित हो जाता है। उस स्तूप के विषय में वह लिखता है कि "यह स्तूप चार सौ हाथ ऊँचा है। अनेक रत्नों से जटित होने के कारण बड़ा ही सुन्दर मालूम होता है। इस यात्रा में मैंने अनेक स्तूप और मन्दिर देखे पर इतना सुन्दर और भव्य कोई न मिला। कहते हैं कि, जम्बूद्वीप में यह स्तूप सबसे उत्तम है।" पेशावर से नगरहार होता हुआ यह यात्री लोई और पोला जनपद में पहुँचा, इस स्थान पर उसके साथी हेकिंग की मृत्यु होगई, जिससे उसे बहुत दुःख हुआ। यहाँ से पंजाब होता हुआ फ़ाहियान मथुरा पहुँचा। मथुरा का वर्णन करते हुए फ़ाहियान लिखता है:—

"यह नगर यूना (यमुना) नदी के किनारे बसा हुआ है

नदी के दहिने बायें बीस बौद्ध विहार हैं। जिनमें तीन सहस्र से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते हैं। यहाँ पर बौद्ध धर्म्म का बहुत अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम सभी जनपदों में जन-पदों के अधिनायक बौद्ध धर्मानुयायी मिले। भिक्षु संघ को भिक्षा देते समय ये अपने मुकुटों को उतार डालते हैं। अपने बन्धु और अमात्यों सहित अपने हाथों से भोजन परोसते हैं। परोस कर महा स्थविर (संघ का नायक) के सम्मुख आसन बिछवा कर बैठ जाते हैं। संघ के सम्मुख खाट बिछा कर बैठने का साहस नहीं करते।" यह तो हुई धार्मिक परिस्थिति। राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए यह यात्री लिखता है:—

"यहाँ से दक्षिण में वह देश है जो मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत ऊष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखापढ़ी व पंच पंचायत कुछ भी नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जाँय जहाँ चाहें रहें, राजा न प्राण दण्ड देता है न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को कानून के अनुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थ दण्ड दिया जाता है। बार २ नीच कर्म करने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतन भोगी हैं। सारे देश में चाण्डाल के सिवा कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है न मद्य पीता है और न लहसुन और प्याज़ खाता है। चाण्डाल लोग नगर के बाहर रहते हैं और जब नगर के अन्दर आते हैं तो सूचना के लिए लक़ड़ी बजाते हुए चलते हैं। जिससे कि लोग सावधान होकर

उनसे बचकर चलें। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते न जीवित पशु बेचते हैं। न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मृगया करते एवं मांस मछली बेचते हैं।"

"बुद्ध निर्वाण के पश्चात् से लेकर आजतक इन देशों के अनेक राजाओं, रईसों और गृहस्थों ने यहाँ पर विहार बनवाए हैं और उनके व्यय के लिए खेत, घर, बगीचे आदि प्रदान किये हैं। दान पत्र ताम्बे के पतरे पर खुदे हुए हैं जो प्राचीन राजाओं के समय से चले आते हैं। किसी ने भी आजतक उनमें हस्तक्षेप नहीं किया, आजतक वैसे ही हैं। विहार में संघ को खान पान मिलता है, वस्त्र मिलता है, वर्षा ऋतु में आवास मिलता है।"

मथुरा से चलकर फाहियान संकाश्य पहुँचा। संकाश्य से चलकर वह कन्नौज आया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कन्नौज उस समय में गुप्तवंशी राजाओं की बड़ी पक्की राजधानी थी, लेकिन न मालूम क्यों फाहियान ने यहाँ के केवल दो संघारामों का वर्णन करके ही अपने विवरण को आगे बढ़ा दिया है। कन्नौज से फाहियान सांची गया। कहते हैं कि, यहां पर बुद्धदेव ने दतुवन करके दतुवन की लकड़ी को भूमि पर फेंक दिया था। वह वैसा का वैसा ही लग गया। सांची से चलकर वह कुशों की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती पहुँचा। पहले यह नगरी राजा प्रसेनजित जो भगवान बुद्ध के समकालीन थे उनकी राजधानी थी और बहुत अच्छी अवस्था में थी, पर अब यह बहुत ही उजाड़ हो गई थी। फाहियान लिखता है कि—"नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, जो हैं सब तितर बितर हैं। सब मिला कर दो सौ के

कुछ अधिक घर होंगे। महाप्रजापति के प्राचीन विहार की जगह, सेठ सुदत्त की भींत और कुओं पर, अंगुलिमात्र के अर्हत होने पर और निर्वाणांकर उसके चैत्य के स्थान पर पीछे के लोगों ने स्तूप बनाए वे अब तक नगर में मौजूद हैं। नगर की शोभा चली जाने पर भी श्रावस्ती के पास वाले जेतवन (जहां पर भगवान् बुद्ध ने कई दिनों तक उपदेश दिया था) विहार की शोभा अभी भी वैसी ही बनी हुई है। विहार के दायें बायें स्वच्छ निर्मल और जलपूर्ण सरोवर हैं। उसके आस पास सदा बहार वृक्षों के बन हैं जिनमें रङ्ग विरङ्गे फूल खिले रहते हैं। जेतवन विहार में रहने वाले सन्यासियों ने हमें देख कर पूछा कि, तुम कहां से आते हो? हमने कहा कि, हम "हान" (चीन) देश से आते हैं। तब उन्होंने बड़ा आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा कि, "हम लोग गुरु शिष्य परम्परा से आने वालों को देखते आये हैं पर अभी तक हान देश के मार्गी (बौद्धानुयायी) लोगों को आते न देखा।"

श्रावस्ती से कश्यप कुकुच्छन्द और कनक मुनी के जन्म स्थानों को देखते हुए फाहियान कपिलवस्तु को आया। इस समय का कपिलवस्तु भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु की तरह स्मृद्ध नहीं था। फाहियान लिखता है कि, "इस नगर में न कोई राजा है न प्रजा। इस समय वह एक बियाबान की तरह मालूम होता है। उसमें दस घर गृहस्थों के है और कुछ संन्यासी रहते हैं। कुशिनगर का भी—जहां कि भगवान् बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए थे,—यही हाल है। वह भी अब नगर नहीं रह गया है"।

यहां से चलकर फ़ाहियान वैशाली में आया जो कि किसी समय में प्रतापी लिच्छवि वंश की राजधानी थी। इस नगर में भगवान् बुद्धदेव ने अम्बपाली वेश्या का आतिथ्य ग्रहण किया था। इसी वेश्या ने इस नगर में भगवान् बुद्धदेव का एक स्तूप भी बनवाया था। इसी नगर में बौद्धों की दूसरी सभा भी हुई थी। इसके विषय में फ़ाहियान लिखता है कि "बुद्ध निर्वाण के करीब १०० वर्ष पश्चात् वैशाली के कुछ भिक्षुकों ने दस बातों में विनय के नियम को यह कह कर तोड़ डाला कि, बुद्ध ने ऐसा करने की आज्ञा दी है। उस समय अर्हतों और सत्यमतावलम्बी भिक्षुओं ने जो कि गिन्ती में १०० थे विनयपिटक को फिर से मिलान कर संगृहीत किया।"

गङ्गा नदी को पार कर फ़ाहियान मगध प्रान्त की राजधानी पुष्पपुर अर्थात् पाटलिपुत्र पहुँचा। इस नगर को पहले पहल अजातशत्रु ने उत्तरी सीमा के शत्रुओं को रोकने के लिए बनवाया था। और जो पीछे जाकर प्रसिद्ध सम्राट् अशोक की राजधानी हुई। इस नगर के सम्बन्ध में फ़ाहियान लिखता है:—"नगर में अशोक राजा का प्रासाद और सभाभवन है। ये सब देवों द्वारा निर्मित है। ऐसी सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक यह ज्यों की त्यों है। अशोक के स्तूप के निकट महायान सम्प्रदाय का एक संघाराम बना हुआ है। यह बहुत सुन्दर और भव्य है। यहां हीनयान सम्प्रदाय का विहार भी है। सब में छः सौ सात सौ के करीब भिक्षुक रहते हैं। आचार विचार, पठन, पाठन आदि सभी विधियां दर्शनीय हैं। चारों ओर के महात्मा, श्रमण, विद्यार्थी

सत्यं; और हेतु के जिज्ञासु, इस स्थान का आश्रय लेते हैं। यहां के आचार्य्य एक ब्राह्मण कुमार हैं जिनका नाम मंजु भी है। जनपद के महात्मा, श्रमण और हीनयान के भिक्षुक उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं।"

"मध्यदेश में इस जनपद का यह सब से बड़ा नगर है। अधिवासी सम्पन्न और स्मृद्धिशाली हैं। दान और सत्य के कामों में इन लोगों के अन्तर्गत बड़ी स्पर्द्धा चलती रहती है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यहाँ पर रथयात्रा निकलती है। चार पहियों का एक रथ बनवाया जाता है, उस पर बांसों को बांधकर उसे पांच खण्ड का बनाते हैं और उस के बीच में एक खम्भा बनाते हैं जो तीनफले भाले की नाईं होता है। और उँचाई में बाईस फ़ीट या उससे भी अधिक होता है। इस प्रकार यह एक मन्दिर की तरह दिखाई देने लगता है। तब वे उसे भड़कीले रङ्गों से रङ्गी हुई मलमल से ढंकते हैं। फिर देवों की मूर्त्तियां बनाकर उन्हें सोने चान्दी और कांच से आभूषित कर कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते हैं। उसके पश्चात् रथके चारों कोने पर वे ताखा बनाते हैं, उसके बीच में बुद्धदेव की मूर्त्ति विराजमान करते हैं, और उनकी सेवा में एक बोधिसत्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुंदर और भड़कीले। इस यात्रा में आस पास वाले ग्रामों के यती गृहस्थ भी सम्मिलित होते हैं। गाने बजाने वाले रथके साथ रहते हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं। फिर ब्राह्मण आते हैं और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिए निमन्त्रित करते हैं। तब बौद्ध लोग एक २ करके नगर में प्रवेश करते हैं। इन सब बातों

में दो रातें बीत जाती हैं। सारी रात रोशनी लगी रहती है, गाना बजाना होता है, पूजा होती है। नगर और बाहर के जितने लोग एकत्रित होते हैं, सब इस प्रकार के कार्य्य करते हैं।"

पाटलिपुत्र के अस्पतालों का इससे भी अधिक मनोरंजक विवेचन फ़ाहियान ने किया है। वह लिखता है:—"इस जनपद के अमीर और गृहस्थ लोगों ने नगर में सदावर्त और चिकित्सालय बनवाए हैं उनमें देश के निर्धन, अनाथ, विधवा, निःसन्तान लूले, लङ्गड़े, और रोगी लोग रक्खे जाते हैं। ऐसे लोगों की यहां पर सब तरह से सहायता की जाती है। वैद्य लोग उनके रोगों की चिकित्सा करते हैं। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते हैं, और जब अच्छे हो जाते हैं घर चले जाते हैं।"

पाटलिपुत्र से चलकर फ़ाहियान बिम्बसार की राजधानी राजगृह पहुँचा। यहां पर उसने उस प्रथम बौद्ध संघ का वर्णन किया है जो कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् पवित्र पाठों को संगृहीत करने के लिए हुआ था। यहां से चलकर वह "गया" गया। फ़ाहियान की यात्रा के समय गया उजाड़ हो गया था। यहां पर उसने प्रसिद्ध बोधिवृक्ष बुद्ध की सर्वज्ञता प्राप्ति से सम्बन्ध रखने वाले सभी स्थानों को देखा। अपनी यात्रा के विवरण में उसने उन सब दन्त कथाओं को लिखा है जो भगवान बुद्ध की निर्वाणप्राप्ति के अनन्तर गढ़ी गई हैं। यहां से वह बनारस आया, यहां पर उसने उस मृगदाव को देखा जहां पर भगवान बुद्ध ने पहले पहल सत्य धर्म्म को प्रकट किया था। यहां पर उस समय दो संघाराम बन गए थे। यहां से वह कौश-

म्बी होता हुआ पुनः 'पाटलिपुत्र गया। जिन "विनय पिटक" नामक ग्रंथों की खोज में हमारे यात्री ने इतनी लम्बी यात्रा की थी, वे अभीतक उसे नहीं मिले थे।

पाटलिपुत्र आकर उसने फ़िर 'विनय पिटक' की खोज करना प्रारम्भ की। इतने में परम्परा से मौखिक शिक्षा देने वाला एक आचार्य्य मिला। पर मूल प्रति उसके पास भी न थी। फिर एक महायान के संघाराम में एक निकाय का विनय मिला। बुद्धदेव जब संसार में थे, तब प्रथम महासंघ में इसका प्रचार हुआ था। शेष ७८ निकाय अपने आचार्य्यों के मत और सिद्धान्तानुसार प्रधान विषयों में समानता और छोटे २ विषयों में विभेद रखते थे। जैसे एक का आदि है तो दूसरे का अन्त। यह प्रति फिर भी सर्वांगपूर्ण, विवृति और भाष्य युक्त थी।

एक और निकाय का विनय मिला, जो लगभग सात सौ गाथा का था। यह सर्वास्तिवाद निकाय का विनय था। चीन देश के भिक्षु-संघ में इसीका प्रचार था। इसकी भी शिक्षा गुरुपरम्परा से मौखिक ही चली आती थी। लिखित न थी। इसी संघ में संयुक्त धर्म हृदय नामक ग्रन्थ लगभग ६०० गाथा का मिला। एक और निकाय का सूत्र २५०० गाथा का, परिनिर्वाण वैपुल्य सूत्र का एक अध्याय ५०० गाथा का और महासांघिक अभिधर्म मिला।

पाटलिपुत्र में तीन साल तक रहकर फ़ाहियान ने संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया। साथ में वह विनय पिटक भी लिखता रहा। उसके साथी "ताउचिंग" ने ज़ब यहां के श्रमणों का नम्र आचार व्यवहार देखा, तो इसे चीनी भिक्षुओं के अधूरे और

विनयहीन आचारों का स्मरण हो आया। उसने शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा की कि, "अब से जब तक सच्चा बौद्ध न हो जाऊँगा तबतक प्रान्त की भूमि में वापस न लौटूँगा।" यह प्रतिज्ञा कर वह तो वहीं रह गया। पर फ़ाहियान को तो अपने देश में जाकर विनय पिटक का प्रचार करना था, इसलिए वह अकेला ही वहां से लौटा।

फ़ाहियान गंगा के तीर पर चलता २ अठारह योजन ारकर चंपापुरी पहुँचा। चम्पापुरी उस समय पूर्वीय बिहार की राजधानी थी। यहां से पचास योजन चलकर वह ताम्रलेप्ती (तमामक) पहुँचा। ताम्रलिप्ती उस समय गंगा के मुहाने र एक भारी बन्दरगाह था। इस देश में बौद्धभिक्षुओं के ौबीस संघाराम थे। श्रमण लोग संघ में रहते थे। यहां पर ौद्ध धर्म्म का अच्छा प्रचार था। इस स्थान पर फ़ाहियान दो ाल तक रहा। वहां पर उसने सूत्रों को लिखा और मूर्तियों े चित्र बनाये।

यहां से फ़ाहियान ने सिंहलद्वीप अर्थात् लङ्का की लम्बी ात्रा की। चौदह दिनों तक जहाज़ में चलते रहने पर वह ङ्का पहुँचा।

लंका के विषय में फ़ाहियान लिखता है:—यहाँ पर पहले ोई निवासी नहीं थे। धीरे २ व्यापारी लोग यहाँ पर आकर सने लगे और कुछ दिनों में यह एक बड़ा राज्य हो गया। ब बौद्ध लोगों ने आकर यहाँ पर अपने धर्म्म का प्रचार किया। ङ्का की जलवायु अच्छी थी, और यहाँ वनस्पति हरी भरी ती थी। नगर के उत्तर ओर ४७९ फ़ीट का एक बड़ा सुन्दर

और एक संघाराम था। जिसमें पाँच हज़ार सन्यासी थे। इतने सुहावने दृश्यों के होते हुए भी फ़ाहियान का हृदय यहाँ पर घबराने लगा, क्योंकि उसे अपनी जन्म-भूमि से जुदा हुए बहुत दिन हो गये थे। इतने ही में एक अवसर पर एक व्यापारी ने बुद्ध की एक २२ फीट ऊँची रत्न-जटित मूर्ति को चीन का बना हुआ एक पंखा भेंट किया। उसे देखकर फ़ाहियान और भी अधिक व्याकुल हो उठा। लंका में दो वर्ष तक रह कर उसने विनय पिटक तथा दूसरे ग्रन्थों को जो कि, अबतक चीन में न पहुँचे थे नकल करके वह अपने देश को वापस लौटने के लिए जहाज़ पर सवार हुआ। रास्ते में एक बड़ा तूफ़ान आया, उसमें फ़ाहियान को बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी। पर दैव सुयोग से अन्त में वह सकुशल जावा सुमात्रा पहुँच गया। यहाँ के विषय में वह लिखता है कि इस देश में नास्तिक और ब्राह्मण लोग अधिकता से रहते हैं।

यहाँ पाँच मास रहकर वह फिर जहाज़ पर सवार हुआ, मार्ग में फिर एक तूफ़ान आया, इस तूफ़ान का मुख्य कारण दूसरे यात्रियों ने फ़ाहियान को समझा। और वे उसे जबरन् उतारने लगे। पर फ़ाहियान के साथियों ने बड़ी वीरतापूर्वक उन लोगों को रोका और ८२ दिन की यात्रा के पश्चात् वे लोग चीन के दक्षिण किनारे पर पहुँच गये।

ऊपर के पृष्ठों पर फ़ाहियान की यात्रा का संक्षिप्त विवेचन कर दिया गया है। यद्यपि फ़ाहियान यहां पर केवल धार्मिक ग्रन्थों की खोज करने आया था, और यद्यपि उसने अपने यात्रा विवरण में धार्मिक दन्त-कथाओं के अतिरिक्त राजनैतिक और

सामाजिक परिस्थिति का बहुत ही कम वर्णन किया है, तथापि जितनी भी सामग्री उसके यात्रा विवरण से प्राप्त हो सकती है, वह उपेक्षणीय नहीं की जा सकती। इस थोड़ीसी सामग्री से भी तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। इसकी आलोचना हम आगे चलकर करेंगे।

सम्राट चन्द्रगुप्त का अवसान।

अपने ३८ वर्ष के शासन से भारतवर्ष को सम्पन्न कर सन ४१३ ईस्वी में भारत का यह आदर्श सम्राट् अपनी ध्रुव स्वामिनी नामक सम्राज्ञी से उत्पन्न पुत्र कुमारगुप्त को उत्तराधिकारी बनाकर परलोक-गामी हुआ।



सम्राट् कुमारगुप्त

हम ऊपर लिख आए हैं कि, सन् ४१३ ईस्वी में सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का स्वर्गारोहण हुआ, और उनके उपरान्त उनके पुत्र कुमारगुप्त उस विशाल साम्राज्य के अधिपति हुए।

कुमारगुप्त के समय की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियां प्रायः वे ही थीं, जो पूर्ववर्ती सम्राटों के समय में थीं, अतः उन पर दुबारा कुछ विशेष विवेचन करना व्यर्थ है।

कुमारगुप्त ने अपने शासन के पूर्वकाल में साम्राज्य का बहुत ही उत्तम ढंग से संचालन किया। यद्यपि चन्द्रगुप्त कालीन साम्राज्य में वे अपनी ओर से कुछ भी नवीन प्रान्त नहीं मिला सके थे, तथापि जितना कुछ साम्राज्य उनके अधिकार में था, उसका शासन वे एक योग्य शासक की तरह करते थे। इसी समय में उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था पर शासन के उत्तर काल में उनका शासन बहुत ढीला पड़ गया था, साम्राज्य

के सभी अंगों में कुछ न कुछ कमजोरियां आने लग गई थीं, और ऐसा मालूम होने लग गया था मानों साम्राज्य के भीतर ही भीतर किसी प्रकार का भयंकर घुन लग गया हो। इसी ढीले पन के कारण भविष्य में जाकर किस प्रकार गुप्त-साम्राज्य का पतन हुआ यह पाठकों को आगे चलकर मालूम होगा। यद्यपि यह ठीक है कि उनके जीते जी साम्राज्य की कोई क्षति न हुई थी पर इसके साथ यह भी मानना ही पड़ेगा कि भविष्य में होने वाली क्षति के कारण इस समय पैदा हो चुके थे। अस्तु। ये कारण किस प्रकार उत्पन्न हुए, इसका पता पाठकों को आगे चलकर स्वयं ही मालूम हो जायगा।

सम्राट् कुमारगुप्त का वृद्ध विवाह

सम्राट् कुमारगुप्त के समय के बहुत से सोने के सिक्के इस समय उपलब्ध हुए हैं। उनमें राजमूर्ति के साथ दो पट्ट महिषियों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। इन सिक्कों पर से कई पुरातत्व के पंडितों ने अनुमान निकाला है कि, सम्राट् कुमारगुप्त ने वृद्धावस्था में किसी युवती से विवाह किया था। इस युवती का नाम "आनन्ददेवी" अथवा "अनन्तादेवी" था। इसके कुटिल कटाक्षों के फेर में पड़कर सम्राट् कुमारगुप्त ने प्रथम पट्ट महादेवी की जीवितावस्था में ही साम्राज्य के तमाम महाबलाधिकृतों के विरोध करते हुए भी इसे पट्ट महादेवी का आसन दे दिया था। कहा जाता है कि, इसी घटना से सारे साम्राज्य में असंतोष हो गया था। इधर तो यह असंतोष हो ही रहा था, उधर सम्राट् कुमारगुप्त तमाम राज कार्यों को छोड़ नवीन पट्ट महादेवी के साथ

विलास मंदिरों में आनंद कर रहे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट् की इस विलास प्रियता के कारण साम्राज्य की शक्ति का ह्रास होना आरंभ हुआ। इधर तो साम्राज्य की शक्ति का इस प्रकार ह्रास हो रहा था, उधर दो एक भयंकर आपत्तियां उठ खड़ी हुई, जिससे साम्राज्य महा विपत्ति का ग्रास होने से बाल २ बच गया। उनमें से पहली आपत्ति।

पुष्यमित्रीय जाति का आक्रमण*

था। कुमारगुप्त की विशृंखल शक्ति देखकर पुष्यमित्र नामक राजा ने उस पर आक्रमण किया। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। प्रारंभ में तो साम्राज्य की सेना उसके भयंकर आक्रमण को सहन न कर सकने के कारण भाग निकली, पर पीछे से युवराज भट्टारक स्कन्दगुप्त ने बड़ी ही कठिनाई से अपनी सेना को वापस फेरा, और फिर बड़े ही जोश के साथ पुष्यमित्रीय सेना पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। इस विपत्ति से तो ज्यों त्यों कर रक्षा हुई। पर इसके पश्चात् जो दूसरी महा भयंकर विपत्ति भारतवर्ष पर अवतीर्ण हुई, उससे गुप्तसाम्राज्य लाख चेष्टा करने पर भी त्राण न पा सका। यह विपत्ति संसार प्रसिद्ध हूण जाति का आक्रमण था। हम पाठकों की जानकारी

---

* राय बहादुर गौरीशंकर जी ओझा के मतानुसार, किसी भी पुष्यमित्रीय जाति का कुमारगुप्त के शासन पर आक्रमण नहीं हुआ था। उनका कथन है कि, इतिहासकारों ने "युद्धमित्रेन" की जगह "पुष्यमित्रेन" का गलत पाठ कर लिया है। असल में उस शिलालेख के अंदर एक युद्ध का उल्लेख है जो हूणों का होना चाहिए। पुष्यमित्रीय जाति का उल्लेख कहीं भी नही पाया जाता।

के निमित्त इस स्थान पर हूण जाति का संक्षिप्त इतिहास देना उचित समझते हैं।

संसार में ईश्वरीय महादण्ड

(The Scourge of God)

हूण* जाति का संक्षिप्त इतिहास

ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग मध्य एशिया की गोचारण भूमियों से एक नृशंस जाति का उदय हुआ। यह जाति बहुत ही थोड़े ही समय में यूरोप में और एशिया के अंदर फैल गई। यह जाति स्वभावतः ही बड़ी क्रूर थी। ये लोग दुर्भिक्ष से भी अधिक भयंकर, महामारी से भी अधिक क्रूर, और मृत्यु से भी अधिक भयंकर, होते थे।

यह जाति क्या थी मानों एक "ईश्वरीय महादण्ड" संसार पर उतरा था। गांव गांव को जला देना और मनुष्य समूह का कत्ले आम कर देना इनके बायें हाथ का खेल था। इनके कंधे चौड़े, नाकें चपटी, आंखें छोटी और भीतर को घुसी हुई होती थीं। दाढ़ी मूछें तो इन लोगों के बिलकुल ही न होती थीं। इस कारण ये न तो जवानी में ही सुंदर मालूम होते थे और न बुढ़ापे में ही।

चीनीयात्री "सुंगयुन" अपने यात्रा विवरण में हूणजाति के रहन सहन का वर्णन करते हुए लिखता है:—

(*) [illegible] (लेखक)

"हूणों के देश के खेतों में पहाड़ी नदियों का पानी बहुत अधिक भरजाता है। घर २ के सामने नदियां बहती हैं। शान्ति रक्षा स्थायी सेना से होती है। वह इधर उधर फिरती रहती है। गरमी में लोग पहाड़ पर चले जाते हैं। सर्दी में वहां से भाग कर गांवों में आ जाते हैं। इन लोगों की कोई लिपि नहीं है, नक्षत्रों की गति का भी इन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। सब आस पास की जातियां इन लोगों को कर देती हैं। हूणों की रानियां भी राजवस्त्र धारण करती हैं। ये राजवस्त्र प्रायः तीन २ फुट या इसके भी अधिक पृथ्वी पर लोटते चलते हैं। इन वस्त्रों को उठाने के लिए परिचारिकाएँ रहती हैं। इस वस्त्र के अतिरिक्त सिर पर इससे भी लम्बी आठ फुट की एक सींग धारण करती हैं। यह सींग तीन फीट तक लाल मूँगे की होती है। यह अनेक रंगों में रंगी जाती हैं। यही उनका शिरोभूषण है। जब रानियां कहीं जाती हैं, तो उन्हें उठाकर ले जाती हैं। जब अन्तःपुर में रहती हैं तो सुनहली चौकी पर बैठती हैं। चौकी में एक छदन्ता सफेद हाथी और चार सिंह बने रहते हैं। बड़े २ मंत्रियों की महिलाएँ भी रानियों के समान ही रहती हैं। वे भी सिरपर ऐसा ही सींग धारण करती हैं। सींग पर चंदोवे की भांति बहुमूल्य पर्दा लटकता रहता है। धनियों और दरिद्रियों के पहनावे अलग २ हैं। चारों बराबर जातियों में यही जाति सबसे अधिक प्रबल है। अधिकांश लोग बुद्धदेव को नहीं मानते, ये लोग जीते प्राणियों को मारते और उनका मांस खाते हैं। हमारी राजधानी से इस देश की दूरी करीब चार हजार माइल समझी जाती है।"

अस्तु ! जब इस देश में इन लोगों की तादाद बहुत अधिक बढ़ गई, तो दूसरे देशों को विजय करने के निमित्त, इन लोगों ने निकलने का विचार किया और शीघ्र ही इन लोगों के दो दल हो गये जिनमें से एक पश्चिम की ओर और दूसरा पूर्व की ओर अग्रसर हुआ। पश्चिम वाले दल ने यूरोप में जाकर रोम के समान विशाल साम्राज्य को धूल धूसरित कर दिया। इसी दल ने यूरोप की गाथ जाति को मिट्टी में मिला दिया। इस दल का मुख्य सर्दार "एटिला" था। उसकी निर्दयता और निठुरता की कहानियां आज भी यूरोपीय साहित्य में प्रचुरता से पाई जाती हैं। एक दूसरे झुण्ड ने आक्स की घाटी पर अधिकार कर लिया और वे श्वेत हूण के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एशिया में भी हूणों की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती ही गई और उन लोगों ने सन ४८४ ईस्वी में फ़ारस के राजा फ़ीरोज़ के मारे जाने पर काबुल की ओर पैर बढ़ाया। और वे कुशान साम्राज्य का ध्वंस कर भारतवर्ष में बढ़ने लगे।

उनका पहला आक्रमण कुमारगुप्त के ही समय में हुआ। इसे शक मण्डल के प्रधान और कुमारगुप्त के छोटे भाई गोविन्द गुप्त ने युवराज स्कन्दगुप्त की सहायता से रोका। इस युद्ध में उन्होंने हूणों को एक बड़ी भारी हार भी दी।

पर इधर तो कुमारगुप्त की विलास प्रियता से दिन पर दिन साम्राज्य की शक्ति का ह्रास होता गया, और उधर हूणों की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती गई। फल यह हुआ कि कुमारगुप्त के जीते जी तो साम्राज्य पर किसी प्रकार की विपत्ति न आई

के कारण और कुछ बाहरी शत्रुओं के आक्रमणों के कारण गुप्त साम्राज्य की शक्ति घटने लग गई थी। प्रान्तीय शासक लोग सम्राट् के नाम का उल्लेख किये बिना ही लोगों को जागीरें वगैरह देने लग गये थे। ४५५ से ४६५ तक फिर भी साम्राज्य का कार्य्य निरापद ढङ्ग से चलता रहा। पर ४६५ ईस्वी से पुनः हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। स्कन्दगुप्त ने यद्यपि इस समय भी कितने ही छोटे बड़े युद्धों में हूणों का मुकाबिला किया, पर साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो जाने के कारण वे अधिक समय तक उनका मुकाबिला न कर सके, और अन्त में एक हूण युद्ध में ही उनके प्राण भी गये।

विन्सेण्ट स्मिथ लिखते हैं कि, गोरखपुर जिले के पूर्व पटने से नव्वे मील के अन्तर पर एक जैन ने एक विचित्र स्तम्भ खड़ा किया, और बुलन्दशहर के जिले में एक धर्मात्मा ब्राह्मण ने गङ्गा और यमुना के बीच में सूर्य्य का एक मन्दिर बनवाया। इससे पता चलता है कि, हूण जाति के आक्रमण के पूर्व स्कन्दगुप्त के राज्य की सीमाओं में कोई न्यूनता न हुई थी। पर हूण युद्ध के पश्चात् उनकी सीमाएं और राज्य शक्ति बहुत संकुचित हो गई थी। इसका एक प्रमाण यह भी है कि, उनके आरम्भिक शासन काल के सिक्कों का सोना और तौल दोनों वैसे ही हैं जैसे उनके पूर्वज सम्राटों के सिक्कों के हैं। पर अन्तिम काल के सिक्कों में शुद्ध सोना प्रायः तीन चौथाई से भी कम पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि, दूसरों के साथ युद्ध करने में राज्य कोष का बहुत सा धन निकल गया था। इसके अतिरिक्त एक और विचित्र बात उनके सिक्कों में पाई जाती है। वह यह कि,

और गुप्त सम्राटों की तरह उनके सिक्के में किसी भी पट्ट महादेवी का उल्लेख नहीं मिलता, और न उनके किसी पुत्र का ही पता इतिहास देता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि, सम्राट् स्कन्दगुप्त का विवाह ही नहीं हुआ था लेकिन उनके विवाह न करने का क्या कारण है इस विषय में इतिहास बिलकुल चुप है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि, हूण युद्ध में सम्राट् स्कन्दगुप्त का प्राणान्त हुआ। उनके पश्चात् सन् ४८० ई० में कुमारगुप्त की नवीन पट्ट महादेवी से उत्पन्न पुरुगुप्त गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। स्कन्दगुप्त के समय में सिक्कों के अन्दर जो मिलावट हो गई थी वह इनके समय में निकाल दी गई। इसके अतिरिक्त इनके जीवन काल में और कोई भी उल्लेख योग्य घटना न हुई। पुरुगुप्त ने केवल पांच वर्ष तक राज्य किया। उनके पश्चात् सन् ४८५ में उनके पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य सिंहासन पर बैठे। उन्होंने बौद्धों के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्द में एक ईंटों का मन्दिर बनवाया। इसकी ऊँचाई तीन सौ फीट के करीब थी। इसमें नाना प्रकार के जवाहिरात प्रचुरता से लगे थे। नरसिंहगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त राज्य सिंहासन पर बैठे। यही गुप्त साम्राज्य के अन्तिम सम्राट् थे। इन्हीं के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का दीप निर्वाण हो गया।

गुप्त साम्राज्य पर एक दृष्टि

संसार में प्रायः दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। एक वे जो अपनी कर्मशीलता, उत्साह और साहस के बल पर साम्

पास की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं, और दूसरे वे जिन्हें परिस्थिति स्वयं अपने अनुकूल बना लेती है।

इस कसौटी पर जब हम मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त और गुप्तवंश की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त इन दोनों को जांचते हैं तो हमें मालूम होता है कि, मौर्य्य वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त पहली श्रेणी के मनुष्यों में से थे और गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय श्रेणी के। प्रथम सम्राट् ने घोर विः परिश्रम के द्वारा भाग्य को अपने अनुकूल बनाया था, और कार: दूसरे सम्राट् का भाग्य स्वयमेव उनके अनुकूल हो गया था। प अन्हले सम्राट् का जीवन यदि तदबीरवाद का अनुमोदन करता है तो दूसरे का जीवन तकदीरवाद का अनुमोदक है। अस्तु जिले, इस विषय में अधिक निवेदन करना यहाँ पर युक्ति सङ्गत नहीं विचित्र, अतः अब हम अपने प्रधान विषय की ओर झुकते हैं। धर्मात

इसमें सन्देह नहीं कि, मौर्य्य और गुप्त स मन्दिसाम्राज्य की स्थापना भारतवर्ष के इतिहास में युगान्तर उपस्थित क्रमश करनेवाली घटनाएँ हैं। सारे भारतवर्ष के इतिहास में इन साम्राज न हुई ज्यों की शताब्दियाँ प्रकाश पुंज की तरह चमक रही हैं। बल्कि शक्ति यहाँ तक कहने में भी अत्युक्ति न होगी कि भारतवर्ष के ज्ञातव्य ी है कि इतिहास में भारतीय सभ्यता का जितना विकास इन शताब्दिर तौल ओं में हुआ उतना कभी भी नहीं हुआ। मौर्य्य साम्राज्य की संधि हैं। पर आलोचना हम पहले कर चुके हैं। इस अध्याय में हम गुप्त ने भी कमसाम्राज्य पर एक सरसरी निगाह डालने का प्रयत्न करेंगे। थ युद्ध व

गुप्त साम्राज्य की स्थापना के पूर्व की । इसके परिस्थिति पर हम पहले संक्षिप्त में लिख चुके हैं। अतः उसी व जाती है को पुनः यहाँ

पर लिखना व्यर्थ है। इस स्थान पर हम केवल उस समय की सामाजिक स्थिति पर संक्षिप्त में विचार करेंगे।

गुप्त साम्राज्य के शासन की सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि अबतक जितने भी शासन अशोक के पश्चात् भारतवर्ष में हुए उन सबमें बौद्ध धर्म की ही धार्मिक प्रधानता रही थी पर गुप्त साम्राज्य में वह प्रधानता कुछ अंशों में कम होने लग गई थी और राज्याश्रय तो प्रायः बहुत अंशों में बन्द हो गया था। गुप्त वंश के प्रायः सभी सम्राट् वैदिक मतावलम्बी थे। दूसरी विचारणीय बात यह है कि स्वयं बौद्ध धर्म के अन्दर भी उस समय बहुत अधिक विश्रृङ्खला उत्पन्न हो गई थी। फाहियान के वर्णन से स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय बौद्ध धर्म में कितनी आडम्बर-प्रियता, कितना कर्मकाण्ड और कितना नकली-पन घुस गया था। सचमुच उस काल का बौद्ध-धर्म्म वास्तविक बौद्ध-धर्म्म से बहुत दूर जा पड़ा था। जिस उच्च आदर्श के लिए भगवान् बुद्धदेव ने इस पवित्र धर्म्म की नींव को डाला था, वह आदर्श बिलकुल नष्ट हो गया था। बौद्ध धर्म की इस तत्कालीन दुर्गति के वर्णन को पढ़ कर सचमुच बड़ा दुःख होता है। पर यह नियम विधि बद्ध है। जो लोग मनोविज्ञान के तत्वों को जानते हैं, उन्हें इस दुर्गति पर विशेष आश्चर्य नहीं हो सकता।

बौद्ध धर्म्म ही क्या, संसार का कोई भी ऐसा धर्म्म नहीं है जो इस प्रकार की दुर्गति से बचा हो। ईसाई धर्म्म को लीजिए। जिन पवित्र सिद्धान्तों पर महात्मा क्राइस्ट ने इस धर्म्म की नींव को रक्खा था। पर भविष्य में इसका क्या वीभत्स

हुआ ? वही जो बौद्ध धर्म्म का हुआ। बल्कि उससे भी अधिक भयङ्कर। महायान और हीनयान की ही तरह उसमें भी रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट दो विभाग हो गये, और उन दोनों विभागों में आपस में ही—जो खून खराबा हुआ, उसके वृत्तान्त को पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या यही महात्मा क्राइस्ट की शिक्षा थी ? इसी प्रकार वैदिक धर्म्म को लीजिए। कितने ऊँचे आदर्शों पर इसकी इमारत खड़ी की गई थी, पर अन्त में इसके भी दो टुकड़े हुए, शैव और वैष्णव। इन दोनों में भी कितना वैमनस्य बढ़ा, इसका पता इतिहास दे रहा है। इसी प्रकार मुसलमान धर्म्म में शिया और सुन्नी, जैन धर्म्म में श्वेताम्बरी और दिगम्बरी आदि विभाग हो गये। और उनमें भयङ्कर विरोध चलता रहा। मतलब यह कि संसार का कोई भी धर्म ऐसा नहीं, जिसमें इस प्रकार का कोई समय उपस्थित न हुआ हो। हर एक धर्म में कभी न कभी इस प्रकार की विशृंखलता का होना अनिवार्य्य है।

पर इसका मुख्य कारण क्या है ? किसी भी धर्म्म की नींव प्रारम्भ में बड़े ही पवित्र सिद्धान्तों पर रक्खी जाती है। फिर भविष्य में जाकर उसकी ऐसी दुर्गति क्यों होती है ? यह एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है। इसका उत्तर बिना मनोविज्ञान का अध्ययन किये नहीं मिल सकता।

मनस्तत्व के विद्वान मनुष्य हृदय की उन भावनाओं को भली प्रकार जानते हैं, जो मनुष्य हृदय में हमेशा अपना कार्य्य करती रहती हैं। इन भावनाओं में दो भावनाएँ प्रधान रहती हैं, एक स्वार्थ-भावना और दूसरी परार्थ-भावना। जिन लोगों में दैवी-सम्पद् और सतोगुण की अधिकता रहती है उनमें स्वार्थ-भावना

की अपेक्षा परार्थ-भावना का अंश अधिकता से रहता है। पर जिन लोगों में आसुरी सम्पद् तथा रजो और तमोगुण की अधिकता रहती है उनमें परार्थ-भावना की अपेक्षा स्वार्थ-भावना का अंश अधिक रहता है। प्रत्येक काल की प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार के मनुष्यों का अस्तित्व रहता है। जब किसी भी नवीन धर्म्म की सृष्टि होती है उस समय यह होता है कि संस्थापक के व्यक्तिगत प्रभाव के सन्मुख पराजित होकर स्वार्थ-प्रबल व्यक्ति भी उस धर्म की हाँ में हाँ मिलाते हुए उस धर्म की दीक्षा ले लेते हैं, और कुछ समय तक—जब तक कि उस धर्म के असली सिद्धान्तों का प्राबल्य रहता है—वे उसके असली सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य्य करते हैं। पर समाज में धर्म संस्थापक का अस्तित्व लोप हुए पश्चात्, वे समय समय पर आचार्य्य के ढोंगी रूप धरकर उस असली धर्म्म में अपनी ओर से कुछ नये नये सिद्धान्तों, जो उनकी स्वार्थ-पूर्ति के अनुकूल हों—मिलाना प्रारम्भ कर देते हैं। यदि उस समय समाज में दैवी सम्पद् से युक्त मनुष्यों की अधिकता हुई तब तो वे फौरन इन पाखण्डियों का विरोध प्रारम्भ कर देते हैं, और यदि इन पाखण्डियों के विचार वालों की अधिकता हुई, तो समाज पर उनका सिक्का जम जाता है। पर दोनों ही अवस्था में उस सम्प्रदाय के दो टुकड़ों का होना आवश्यक है। और उनका झगड़ा चलना भी ज़रूरी है।

अशोक के समय में भी बौद्ध धर्म के अन्दर इस प्रकार की विशृंखला पाखण्डियों ने उत्पन्न कर दी थी, पर चूँकि उस समय समाज में दैवी सम्पद् युक्त मनुष्यों की अधिकता थी, और

स्वयं अशोक भी बुद्ध का उपासक था, इसलिए उनका वह पाखण्ड अधिक समय तक न चला, और वे सब पाखण्डी समाज से अलग कर दिये गये। पर कनिष्क के समय में इन लोगों में फिर ज़ोर बढ़ा और यहां तक बढ़ा, कि स्वयं कनिष्क भी इन लोगों के फेर में आगया। फिर क्या था। राज्याश्रय मिलते ही इनका बल और भी अधिक बढ़ गया। फल यह हुआ कि, कश्मीर में इन लोगों का सम्प्रदाय महायान (बड़ा पन्थ) की संज्ञा से मशहूर हुआ, और सच्चे बुद्धानुयायियों का पन्थ हीनयान कहलाया। बस फिर क्या था, इनके पन्थ को ज़ोर मिलते ही इन लोगों ने जो २ अनर्थ करना प्रारम्भ किये, वे वर्णनातीत हैं। गुप्तकाल में ये अनर्थ बहुत ही ज़ोरों पर हो गये थे। यहां तक कि अकेले पाटलिपुत्र में सकई संघारामों के अन्तर्गत इनके षड्यन्त्र, पाखण्ड, अनाचार और व्यभिचार चला करते थे। इन घटनाओं का फल यह हुआ कि बहुत से सज्जन पुरुषों को इन लोगों से घृणा हो भी आई, और इस कारण वे स्वयं अपना धर्म परिवर्तित करने लगे। क्या आश्चर्य यदि गुप्त सम्राटों ने भी इनकी लीलाओं को यह देखकर, वैदिक मत का पोषण किया हो।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि उस समय बौद्ध धर्म अपनी उन्नत अवस्था से गिरकर बहुत अधः पतित अवस्था में पहुँच गया था, और इसी कारण सर्व-साधारण का उस पर से विश्वास उठता जा रहा था।

यह तो हुई धार्मिक स्थिति, अब तत्कालीन शासन-नीति पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। मौर्य्य साम्राज्य के शासन

और गुप्त साम्राज्य के शासन में केवल एक ही अन्तर सबसे बड़ा दिखलाई देता है। वह यह कि मौर्य्य कालीन दण्डविधान से गुप्त कालीन दण्डविधान बहुत कोमल हो गया था। अंग्रेज लेखकों के कथनानुसार मौर्य्य साम्राज्य का यह कलंक गुप्त सम्राटों ने अपने शासन में मिटा दिया था। वास्तव में गुप्त साम्राज्य ने इस विषय में बहुत ही उन्नति करली थी। और इस विषय में आधुनिक संसार के सब शासनों से भी यह शासन उन्नत हो गया था।

फाहियान के यात्रा विवरण से मालूम होता है कि, तत्कालीन समाज में अछूतों के प्रति घृणा के भाव बहुत बढ़ गये थे। शायद बौद्ध धर्म के अधःपात के कारण ही ये भाव अधिकतर फैले होंगे। पर इसमें संदेह नहीं कि, मौर्य्य शासन काल की अपेक्षा गुप्त शासन काल में अछूत भाव बहुत अधिक फैल गये थे। जान पड़ता है कि छुआछूत की यह भयंकर बीमारी उस समय से अभी तक बराबर बढ़ती हुई चली आ रही है। इस पर विशेष आलोचना करना व्यर्थ है। प्रत्येक शिक्षित इस बीमारी की भयंकरता को अच्छी तरह समझता है।

अब गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर विचार कीजिए।

किसी भी उन्नत साम्राज्य का पतन क्यों होता है? यद्यपि साम्राज्य के पतन के कई कारण हो सकते हैं, पर उनमें से मुख्य कारण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(१) जब कि शासक और प्रजा के बीच किसी प्रकार का मनो-वैमनस्य हो, और उससे प्रजा को कुचलने के लिए शासक की ओर से भयङ्कर अत्याचार होने लगें।

(२) जब शासक विलासप्रिय होकर, शासन की बागडोर अनजान और स्वार्थी लोगों के हाथ में दे दे। इससे परिणाम यह होता है कि इन लोगों की मूर्खता से साम्राज्य की शक्ति बिखर जाती है, जिससे आस पास की दूसरी जातियों को सिर उठाने का अवसर मिलता है।

इसी प्रकार के और भी कई कारण ऐसे होते हैं जिनसे राज्य का अधःपात हो जाता है। पर गुप्त साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण प्रायः दूसरा ही है। यह बात निर्विवाद है कि गुप्त साम्राज्य-काल में राजा और प्रजा के स्वार्थों में बहुत कुछ साम्य था। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त के द्वितीय विवाह करने के पूर्व साम्राज्य की शक्ति भी काफी सुदृढ़ थी। पर कुमारगुप्त के दूसरा विवाह कर लेने और नवीन महिषी को पट्ट महिषी का पद दे देने से, सारे साम्राज्य के अंदर बहुत असंतोष छा गया। कुमारगुप्त ने उस असन्तोष की कुछ परवाह न की, और अपने समय को विलास मंदिरों में ही बिताने लगे। राज्य की बागडोर अनुभवी आदमियों के हाथ में चली गई। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि, साम्राज्य की शक्ति बहुत अस्तव्यस्त हो गई। ऐसे नाजुक समय में हूण जाति ने पूरे बल के साथ साम्राज्य पर आक्रमण किया। फिर भी एक बार वे लोग साम्राज्य की बची खुची शक्ति से भी पराजित करा दिये गये। दूसरी बार के युद्ध में साम्राज्य शक्ति विजयी न हुई, और अन्त में वही परिणाम हुआ, जो प्रायः ऐसी स्थिति में सभी साम्राज्यों का हुआ करता है।

इस प्रकार प्रतापी गुप्त साम्राज्य का दीप निर्वाण हुआ।

सम्राट् हर्षवर्द्धन

उस समय का भारत

पाठकों को अब हम मौर्य्य और गुप्त साम्राज्य के अतिशय सुन्दर समय से निकाल कर धीरे धीरे ऐसे समय में ला रहे हैं, जो हमारे लिए आल्हादजनक नहीं। जिसके इतिहास की बहुत सी घटनाएं हमारे हृदय को दुःखित करती हैं। यह समय ईसा की छठवीं शताब्दी का है। पहले के भारत में और इस समय के भारत में बहुत अधिक अन्तर पड़ गया था। गुप्त साम्राज्य का पतन होते ही देश की राजनैतिक स्थिति बहुत [डांवां]डोल होने लग गई थी। स्कन्दगुप्त के पश्चात् कोई भी [ऐसा] प्रतापी सम्राट् अभी तक नहीं हुआ था, जो सुदृढ़ साम्राज्य की रक्षा कर सके। सुयोग्य शासक के अभाव में साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। जिसके हाथ देश का जो टुकड़ा लग गया, वही उसका स्वतंत्र राजा बन बैठा। और स्वयं ही अपने को सम्राट् चक्रवर्ती, महाराजा आदि की उपाधि लगाने लग गया। देश में जिसकी "लाठी उसकी भैंस" (The might is right) वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। इधर तो हिन्दू राजाओं की [illegible] थी, उधर [illegible] [illegible] [illegible] ... [illegible]

हो चुका था, और उसने महाराजाधिराज की उपाधि भी धारण कर ली थी। सन् ५१० ईस्वी में वह मर गया, और उसके पीछे क्रूरता का दूसरा अवतार मिहिरगुल गद्दी नशीन हुआ। पंजाब के अन्तर्गत सियालकोट में इसने अपनी राजधानी स्थापित की।

मिहिरगुल भी एटिलमा की ही तरह दुष्ट और नराधम था। ये लोग अत्यन्त निर्दयता से प्रजा का वध करके रक्त की नदियां बहाते थे। फसलें उजाड़ देते थे और गांव जला देते थे। मिहिरगुल को एक विशेष प्रकार का शौक भी था। वह बड़े २ हाथियों को ऊँचे २ पर्वतों पर चढ़ा कर उन्हें वहां से गिरवाता था। और उनका करुणास्पद चिंघाड़ना हर्षित चित्त से सुनता था। इसीसे पता चल जायगा कि, वह कितना अधिक क्रूर था।

अस्तु, उसकी इस क्रूरता से तङ्ग आकर मगध के राजा बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्म्मन ने मिलकर उसे एक बड़ी भारी हार दी, एवं उसे कैद भी कर लिया। परन्तु भारतीय उदारता के वशीभूत होकर बालादित्य ने उसे कारागार मुक्त कर सम्मान पूर्वक वापस भेज दिया। यहां से छूटकर मिहिरगुल कश्मीर पहुँचा। कश्मीर के राजा ने शरणागत वत्सल हो उसे एक छोटा सा प्रदेश जागीर में भी दे दिया। परन्तु इस एहसान फरामोश ने कुछ दिनों में शक्ति संचित कर अपने आश्रयदाता को ही राजच्युत कर दिया और स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया। कश्मीर को हस्तगत कर इसने गान्धार पर आक्रमण किया। वहाँ भी उसने बड़ी ही क्रूरता के साथ अपनी ही जाति के राजपरिवार को नष्ट कर दिया। और वहां से आगे बढ़कर सिन्धु नदी तक कत्ले आम करता हुआ चला गया। इस अर्से

में उसने अनेक मन्दिरों, विहारों और समाधि स्थलों को तोड़ कर उन्हें लूट लिया। अन्त में सन् ५४० के करीब इस नराधम का भार पृथ्वी पर से हलका हुआ।

कहते हैं कि, जिस समय इसकी मृत्यु हुई उस समय ज़ोर से आंधी चली, भयङ्कर रूप से बादल कड़के और भूकम्प हुआ। इससे कई लोगों ने अनुमान लगाया कि, इसके कृत्यों की सज़ा पाने के लिए यह नर पिशाच घोर नरक में डाल दिया गया।

कहने का मतलब यह है कि, हर्षवर्द्धन के पूर्व देश की राज-नैतिक परिस्थिति बहुत ही डांवाडोल हो रही थी। सारे देश में अशान्ति का भयङ्कर दौरदौरा था।

धार्मिक स्थिति

राजनैतिक स्थिति की तरह भारत की धार्मिक स्थिति भी उस समय बहुत डांवाडोल हो रही थी। यह तो हम पहले ही लिख आए हैं कि, महाराज कनिष्क के कुछ समय पश्चात् से ही बौद्ध धर्म का पतन और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था। फिर भी इस समय भी देश में प्रधानता बौद्धधर्म की ही थी। पर अब उसमें बहुत अधिक पाखण्ड शिथिलता घुस गई थी। भगवान् बुद्ध के असली सिद्धान्तों का पालन बहुत ही कम लोगों में रह गया था। शेष अधिकांश में [illegible] [illegible] और कुलाचार की प्रधानता होने लग गई थी। मतलब यह कि, उस पर सनातन हिन्दू-धर्म की बहुत गहरी छाप पड़ गई थी। बौद्धधर्म की तो यह अवस्था थी, उधर शिव और वैष्णव सम्प्रदायों की दिन पर दिन उन्नति हो रही थी। इन धर्मों के अनु-

न्यायी हज़ारों की संख्या में बढ़ रहे थे। तात्पर्य्य यह कि, उस समय के भारत में धार्मिक धींगाधींगी भी बहुत बढ रही थी।

मतलब यह कि, छठवीं और सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष अशान्ति का घर हो रहा था। इसी भयङ्कर परिस्थिति में सम्राट् हर्षवर्द्धन का जन्म हुआ।

हर्षवर्द्धन का जन्म।

हर्ष-वर्द्धन स्थाणवीश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन के कनिष्ट पुत्र थे। हर्षवर्द्धन के जन्म के विषय में प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट अपने हर्षचरित में लिखते हैं कि:—

"एक समय रानी यशोमती (प्रभाकर वर्द्धन की रानी) और प्रभाकर वर्द्धन रात्रि के समय सुख पूर्वक सोये हुए थे। एकाएक रानी यशोमती की निद्रा भङ्ग हुई, और वह "भगवन्! रक्षा करो! रक्षा करो!" कहकर चिल्ला उठी। राजा ने सजग होकर उसके चिल्लाने का कारण पूछा। तब रानी ने कहा कि, "भगवन्! मुझे हाल ही में एक विचित्र स्वप्न दिखाई दिया। मैंने देखा कि, कुण्डल कवच और शस्त्रधारी दो प्रतापी राजकुमार सूर्य्य मण्डल से उतरे। उनके पीछे २ एक सुन्दरी कन्या भी थी। उन्होंने यहां आकर मेरा पेट चीरा और उसमें प्रवेश करने की कोशिश करने लगे। यह देख कर मैं भयभीत होकर चिल्ला उठी।" इस स्वप्न को सुन कर राजा प्रभाकर वर्द्धन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रानी को सान्त्वना देते हुए कहा "सुभगे! यह स्वप्न विषाद् सूचक नहीं, प्रत्युत बहुत ही आनन्द सूचक है। सूर्य्य

देव हम पर प्रसन्न हुए हैं। वे तुम को शीघ्र ही तीन सन्तानों की माता कहलाने का गौरव प्रदान करेंगे।"

उपरोक्त कथन के अनुसार क्रमशः राजा को पहले राज्य वर्द्धन और दूसरे हर्षवर्द्धन नामक पुत्र एवं तीसरे राज्यश्री नामक कन्या प्राप्त हुई।

बाल्यकाल इन तीनों का बड़े ही आनन्द से व्यतीत हुआ। इनका विद्याध्ययन भी बहुत उत्तम ढङ्ग से हुआ था। भारतीय इतिहास के अन्दर ये ही सम्राट् एक ऐसे नजर आते हैं जो सम्राट् के साथ २ कवि भी थे। इनकी कविता इतनी सुन्दर, इतनी काव्यमय और इतनी प्रतिभा सम्पन्न होती थी कि, आज भी इनका नाम भारतीय काव्य के इतिहास में बहुत ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित होता है। इनके लिखे हुए कई ग्रन्थों में से नागानन्द, रत्नावली, और प्रियदर्शिका इस समय भी प्राप्त हैं। जैसे ये विद्वान थे वैसे ही विद्वानों का सत्कार करने में भी अग्रगण्य थे। महाकवि बाणभट्ट इन्हीं के आश्रित थे, और इन्हें बहुत सी सम्पत्ति भी मिली थी। और बाणभट्ट ने हर्षचरित नामक पुस्तक में इनका चरित्र गूंथ कर इनका नाम अमर कर दिया है। इसके अतिरिक्त ये चित्र विद्या में भी बड़े निपुण थे। इनकी चित्र विद्या का नमूना इनके बांसखेड़ा के दानपत्र में जो इन्होंने संवत २२ में खुदवाया गया था, उनके हस्ताक्षरों में पाया जाता है।

राज्यश्री की शिक्षा का बहुत उत्तम प्रबन्ध किया गया था। आगे चलकर यह भी बड़ी विदुषी निकली। इसका विवाह मौखरी वंश (कन्नौज के) के राजा अवन्ति वर्मा के पुत्र गृहवर्मा के साथ हुआ।

हर्षवर्द्धन का राज्यारोहण ।

सन ६० ५–६ ईस्वी से कुछ पूर्व प्रभाकर वर्द्धन की दाह-ज्वर से अचानक मृत्यु हो गई । रानी यशोमती पति को मरणा-सन्न देख कर पहले ही जल चुकी थी । राज्य वर्द्धन उस समय हूणों से युद्ध करने के लिए गये हुए थे । हर्ष वर्द्धन को पिता की मृत्यु से वहुत दुःख हुआ । वे अत्यन्त कातर हो उठे । कुछ समय पश्चात् राज्यवर्द्धन भी आ पहुँचे । उन्हें भी पिता की मृत्यु से अत्यन्त दुःख हुआ । यहां तक कि, वे राज्य की ओर से भी उदासीन हो गये । वे हर्ष को सिंहासनासीन करके वान-प्रस्थ होना चाहते थे । हर्षवर्द्धन और उनके मन्त्री उन्हें ऐसा करने के लिए रोकने की चेष्टाएँ करते थे ।

इतने ही में एक दिन समाचार आया कि, प्रभाकर-वर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुन कर मालव देश (जिसे प्रभाकर वर्द्धन ने जीता था) का राजा विरोधी हो उठा है । उसने कन्नोज पर चढ़ाई करके उनके वहनोई गृहवर्म्मा को मार डाला है । और उनकी वहन "राज्यश्री" कारगार के अन्दर डाल दी गई है ।

इस समाचार को सुनते ही राज्यवर्द्धन आग बबूला हो उठे। वे क्रोध के आवेश में अपने सब विचारों को भूल गये । और तत्काल १०००० सवारों को साथ में लेकर उन्होंने मालवे पर चढ़ाई की । सहज ही में उन्होंने मालवा के राजा को परास्त कर दिया । पर गौड़ के राजा शशाङ्क ने उन्हें मीठी २ बातों में भुलावा देकर धोखे से मार डाला । राज्यश्री भी इतने में अवसर

पाकर कारागृह से छूट गई। पर वह भाई के पास न जाकर पहाड़ पर चली गई।

हर्ष पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। शोक, चिन्ता, नैराश्य और क्रोध की प्रवृत्तियों ने उसके हृदय में भयङ्कर तहलका मचा दिया। वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये। पर शीघ्र ही सेनापति सिंहनाद के उत्साहित करने पर इनके हृदय में प्रतिहिंसा की प्रबल अग्नि धधक उठी। उन्होंने उसी समय तलवार पर हाथ रख कर प्रतिज्ञा की कि—

"यदि परिगणितैरेव वासरैर्निर्गौडां न करोमि मेदिनीं ततः पीतसर्पिषी पतङ्ग इव पातयाम्यात्मानम्"।

(अर्थात्—यदि थोड़े दिनों में मैं पृथ्वी से गौड़ के राजवंश को निर्मूल न कर दूँ तो पतङ्ग की तरह आग में कूद कर जल मरूँगा।)

इसी समय भण्डि आदि राज्य के मन्त्रियों के अनुरोध से हर्षवर्द्धन सिंहासन पर आसीन हुए और सन् ६०६ में उन्होंने अपने नाम का एक नया संवत् चलाया।

अब हर्षवर्द्धन ने अपने दो कर्तव्य निश्चित किये (१) अपनी बहन राज्यश्री की खोज करवाना और (२) शशाङ्क से प्रतिहिंसा लेना।

राज्यश्री की खोज करने में हर्षवर्द्धन को अधिक परिश्रम न पड़ा। उन्हें इस बात का पता तो किसी सूत्र से लग गया था कि राज्यश्री विन्ध्याचल पहाड़ पर गई है। तत्काल ही उन्होंने विन्ध्याचल पर रहनेवाली जङ्गली जातियों को राज्यश्री की खोज करने के लिये भेजा। इनमें से "निर्घात" नामक एक [illegible] ने

राज्यश्री का पता लगाया। जिस समय हर्षवर्द्धन उसके पास पहुँचे उस समय वह अपने जीवन से उदासीन होकर अपनी सखियों के साथ जलकर प्राण देने के लिए उतारू हो रही थी। सामने ही चिता धाँय २ जल रही थी। राज्यश्री उसमें कूदने ही को थी कि, हर्षवर्द्धन वहाँ पर पहुँच गये। उन्होंने उसे समझा बुझा कर शान्त किया। इसपर राज्यश्री ने जलने का विचार तो छोड़ दिया, पर वह घर चलने को राजी न हुई। उसका इरादा वैराग्य ग्रहण कर अपने शेष जीवन को शान्ति पूर्वक जंगल में व्यतीत करने का हुआ। पर हर्षवर्द्धन ने उसको बहुत समझा बुझा कर रोका, और वे उसे राजधानी में ले आये।

राज्यश्री को राजधानी में पहुँचाते ही हर्ष को अपने दूसरे कर्तव्य को पूरा करने की चिन्ता हुई। और उसके साथ ही साथ उन्हें भारत की तत्कालीन दुर्गति का भी खयाल हो आया। उनके आगे चन्द्रगुप्त और अशोक कालीन भारतवर्ष के एकच्छत्री साम्राज्य का चित्र घूमने लगा। उन्होंने फिर से एक बार-चन्द्रगुप्त की तरह भारत को एक सूत्र में बाँधने का इरादा किया। उन्होंने सोचा कि, भारत की ये बिखरी हुई शक्तियाँ उसी हालत में केन्द्रीभूत हो सकती हैं, जब इन पर एकच्छत्री साम्राज्य हो जाय। इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने शीघ्र ही भारतवर्ष में एक महा साम्राज्य की नींव डालने का पवित्र संकल्प किया।

सचमुच हर्ष के समान राजा के लिए इस संकल्प को पूरा करना अत्यन्त दुःसाध्य था। जिसमें भी खास कर उन परिस्थितियों में जिनमें हर्षवर्द्धन को काम करना था। पर हर्षवर्द्धन का उत्साह, उनकी वीरता, उनकी बुद्धिमानी उनकी विद्या और

उनकी महत्त्वाकांक्षा इतनी बलवती थी कि, उन्हें इतना भयङ्कर काम भी साधारण जान पड़ता था। सचमुच नीतिज्ञों का यह कथन है कि, "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः" बिलकुल सत्य है। हर्षवर्द्धन को अपनी कमजोरी का खयाल बिलकुल ही न था, यह बात नहीं है। पर ज्यों ही उन्हें अपनी कमजोरी का खयाल आता, त्यों ही चन्द्रगुप्त का चित्र उनके सामने घूम जाता था, वे तत्काल उत्साहित हो उठते थे। ऐसे उत्साही पुरुषों ही के लिए शायद बाणभट्ट ने निम्नलिखित शब्द लिखे।

अंगनवेदि वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य।

(प्रतिज्ञाबद्ध वीर की दृष्टि में सारी वसुधा घर के आंगन के समान, सागर क्षुद्र नदी के तुल्य, और सुमेरु वल्मीक (मिट्टी का ढूहा) की तरह दिखाई देता है।

कहने का मतलब यह है कि अन्त में हर्षवर्द्धन का दिग्विजय करने का विचार निश्चित हो गया।

आजकल के कुछ लोगों का कथन है कि, प्राचीन हिन्दुस्थान में एक राष्ट्रीयता की भावना न थी। अंग्रेजों ने ही भारत में एक राष्ट्रीयता की कल्पना की, पर [illegible] है। इसके विरोध में कई प्रकार के प्रमाण दिये जा सकते हैं। सबसे पहले तो चार धाम की जो [illegible] चारों ओर में की गई है, वही इस बात को स्पष्ट है कि, भारत में एक राष्ट्रीयता की भावना थी। और इन धामों के द्वारा [illegible] नीति निर्धारित की गई थी। इसके अतिरिक्त [illegible] पुस्तकों के स्थान स्थान पर दिग्विजय की जो बातें लिखी हैं उनसे

साफ़ ज़ाहिर होता है कि, वे लोग दिग्विजय के कुलक्षेत्र को भारत के ही अन्तर्गत समझते थे। जो कुछ भी हो, यह चर्चा यहां पर असामयिक है, अतः हम इसे यहीं पर समाप्त करते हैं।

हर्षवर्द्धन ने दिग्विजय प्रारम्भ किया। उन्होंने पहले छोटे २ राज्यों को जीत कर अपने राज्य में मिलाया। सबसे पहले उनका युद्ध शशाङ्क से हुआ। लगभग १२ वर्ष तक यह राजा उत्पात मचाता रहा। पर अन्त में इसका राज्य हर्ष के राज्य में मिला लिया गया।

उसके पश्चात सम्राट् हर्षवर्द्धन ने पूर्वीय पंजाब और बंगाल का अधिकांश भाग जीत लिया था।

उसके वाद वल्लभी जीता गया। वल्लभी के राजा दूसरे ध्रुव-सेन ने पहले तो भड़ौंच के राजा से सहायता माँगी पर अन्त में ध्रुवसेन और भडौंच के राजा दोनों ही को हर्ष का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। आनन्दपुर, कच्छ और सूरत भी इसी समय में जीते गये।

इसके बाद बङ्गाल की खाड़ी के पास का प्रदेश जीता गया। इसी समय में आसाम के प्रतापी नरेश ने भी हर्ष का आधिपत्य स्वीकार किया।

हर्ष के पास ५००० हाथी, २०००० सवार, ५०००० पैदल सेना थी, पर हाथियों की सेना बढ़ते २ साठ हज़ार और सवारों की एक लाख हो गई थी।

पूर्वीय पंजाब और बङ्गाल को विजय कर लेने पर हर्षवर्द्धन की दृष्टि दक्षिण के प्रदेश पर पड़ी। उस समय दक्षिण में महा

प्रतापी चालुक्य वंश का राज्य था। जिस प्रकार हर्ष का प्रताप उत्तर में था, उसी प्रकार उसका प्रताप दक्षिण में था। या यों कहिए कि हर्ष उत्तर का सम्राट् था तो द्वितीय पुलकेशी दक्षिण का सम्राट् था। हर्षवर्द्धन ने पूरी तैयारी के साथ दक्षिण पर चढ़ाई की। दोनों नरेशों में मुठभेड़ हुई। जिसमें हर्षवर्द्धन पराजित हुए। उसी समय से नर्मदा नदी उनके राज्य की दक्षिणी सीमा हो गई।

यद्यपि हर्ष के राज्य का विस्तार चन्द्रगुप्त और अशोक के बराबर नहीं हुआ था तथापि इस बात का ख़याल करते समय यह भी मद्दे नज़र रखना चाहिए कि, चन्द्रगुप्त के समय की परिस्थिति से हर्षवर्द्धन के समय की परिस्थिति कितनी अधिक नाज़ुक थी? चन्द्रगुप्त के समय में भी भारत पर विदेशी आक्रमण हो चुके थे पर हर्षवर्द्धन के समय विदेशियों की जितनी धूमधाम भारतवर्ष में हो गई थी, उसकी चौथाई भी चन्द्रगुप्त के समय में न थी। इसके अतिरिक्त चालुक्य राज्य के समान विशाल साम्राज्य से भी चन्द्रगुप्त को सामना करने की ज़रूरत न पड़ी थी। असल में देखा जाय तो हर्षवर्द्धन की दिग्विजय में चालुक्य राज बहुत ही बड़ा बाधक हुआ। इन सब बातों के अलावा चन्द्रगुप्त के पास और भी एक ऐसी शक्ति थी जिससे उसे साम्राज्य संगठन में बहुत बड़ी सहायता मिली। वह शक्ति थी आर्य चाणक्य के रूप में। यदि चाणक्य न होते तो चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का जो गौरवपूर्ण नक्शा आज हम देख रहे हैं इतने में आता या नहीं सो कौन कह सकता है। हर्षवर्द्धन के पास ऐसी कोई शक्ति न थी। हर्ष ने केवल अपने ही भुजबल पर [illegible]

साम्राज्य को वनाया था। उनकी मृत्यु के वाद ही वह साम्राज्य वालू की भींत की तरह गिर कर तीन तेरह हो गया। हर्षवर्द्धन ने वहुत चेष्टा की थी कि, देश में फिर से नवजीवन संचार हो, लोगों में जातीयता की भावना पैदा हो पर देश के दुर्भाग्य से हर्ष इस वात में कृतकार्य्य न हो सके। हर्ष ने अपने वाहुवल से इतने वड़े साम्राज्य को अवश्य जीत लिया पर वे लोगों के हृदय को न जीत सके। उन्होंने एकच्छत्री विशाल साम्राज्य की प्रतिमा अवश्य वना कर तैय्यार कर दी, पर वे चन्द्रगुप्त की तरह उसमें प्राणप्रतिष्ठा न कर सके। और इसी कारण वे जहां तक जीवित रहे वहां तक साम्राज्य भी वना रहा। ज्यों ही उनकी मृत्यु हुई साम्राज्य भी विखर गया।

दैशिक शास्त्र का नियम है कि, जव किसी भी देश का पतन होना प्रारम्भ होता है तो सव से पहले उस देश का अथवा वहाँ पर वसने वाले मनुष्यों के चरित्र का पतन होने लगता है। लोगों का मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है, जाति की जातीयता भ्रष्ट हो जाती है। रह जाता है केवल स्वार्थ, जो जाति, और व्यक्ति में घुस कर देश को पतन की ओर ढकेलता है। जहाँ तक जाति के अन्दर चिति (दैशिक शास्त्र का एक तत्त्व) और विराट् शेष रहते हैं, वहाँ तक कभी उसका पतन नहीं हो सकता। चिति और विराट् के नष्ट होते ही जाति अपने आपको नहीं सम्हाल सकती। क्या नैतिक दृष्टि से; क्या आर्थिक दृष्टि से, और क्या राजकीय दृष्टि से चारों ओर से उसका पतन हो जाता है। और अन्त में वह जाति किसी चिति और विराट् सम्पन्न जाति की गुलाम होकर रहती है।

हर्ष के पश्चात् उपरोक्त सब बातें इस देश में पाई जाने लगी थी। जिले २ में अलग २ राज्य हो गये थे। गाँव के बाहर निकले, बस विदेश हो गया। धार्मिक उमङ्ग भी लोगों के हृदय से नष्ट हो चुकी थी। बौद्ध धर्म धीरे २ सनातन धर्म में विलीन होने लग गया था। पुराने वैभव की स्मृति अब भी स्नेहहीन दीपक की तरह थोड़ी २ टिमटिमा रही थी। वैदिक धर्म की शक्तियाँ बौद्ध धर्म को नष्ट करने में लगी हुई थीं। इस तरह धार्मिक दृष्टि से भी भारत का पतन हो चुका था। नैतिक पतन हुआ। धार्मिक पतन भी हुआ। रहा राजकीय पतन सो कई अंशों में तो वह भी हो चुका था, पर फिर भी उसमें अभी कुछ बाकी था। वह बाकी भी कुछ समय के बाद पूरी हो गई। इधर तो यह हो रहा था, उधर उसी समय अरबिस्तान के अन्दर एक ऐसी घटना हुई, जिसने थोड़े ही समय में संसार के इतिहास का काया पलट कर दिया। वह घटना और कुछ नहीं थी, वह इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे। सन् ६२२ का साल संसार में एक नवीन युग का संचार करने वाला साल है। इसी वर्ष में हजरत साहब मक्का से भाग कर मदीना गये, और इसी साल से इस्लाम की नींव दुनियाँ में पड़ी। इस्लाम के इस नवीन धर्म से सारा संसार चौंक उठा। इस नवीन धर्म में समानता और सार्वजनिकता तो थी ही, पर खुदा, रसूल, कुरान, पैगम्बर, दोजख, शैतान आदि कई बातें ऐसी थीं जो बहुत सीधी सादी और साधारण से साधारण मनुष्य के समझ में भी आ सकती थीं। मुसलमानी धर्म का सबसे पहला सिद्धान्त है :

उनके धर्म में मुसलमान मुसलमान में कोई भी भेद भाव नहीं रक्खा गया है। दीन के नाम पर प्रत्येक मुसलमान को मर जाना चाहिए, यह उपदेश कुरान की आयतों में साफ़ तौर से लिखा हुआ है। इस धर्म ने अरबकी अर्द्ध सभ्य जातियों में नवजीवन का संचार कर दिया। इस धर्म के सिंहनाद सुनते ही वहां के मृत प्राय लोगों में प्राण प्रतिष्ठा हो गई। यह धर्म क्या चला मानों उन लोगों के हाथ ऐहिक और पार लौकिक सुखों की कुंजियां हाथ लग गई। कुछ ही समय के पश्चात् इस संगठन ने विस्तृत रूप धारण किया। और अन्त में हिंदुस्थान पर भी इस धर्म की दृष्टि पड़ी।

इस तरह इस काल में एक ओर तो असभ्य जातियां नये जीवन, नई शक्ति, और नये उत्साह के साथ उठ रही थीं; दूसरी ओर वे सभ्य जातियां जो प्राचीन सभ्यता की स्तंभ स्वरूप थीं, अपने ही हाथों अपनी समाधियां बना रही थीं। इसके पश्चात् साम्राज्य का जो काया पलट हुआ उसे इतिहास बतला रहा है।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु

सन् ६४८ ईस्वी का साल भारत के लिए बड़ा ही दुःखप्रद था। उसी वर्ष में हिंदुस्थान के अन्तिम सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु हुई। उसी साल से भारत का पतन-काल प्रारंभ हो गया। प्रारंभ तो पहले ही हो चुका था, पर हर्षवर्द्धन ने अपनी बुद्धिमानी के बल से उस गिरती हुई इमारत को अपने हाथों के बल ठहरा रक्खा था। उनका पतन होते ही वह कच्ची इमारत बालू के ढूँढे की तरह गिर पड़ी।

हर्षवर्द्धन के मरते ही उसके अर्जुन नामक सेनापति ने राज-वंश को हटा कर स्वयं राज सिंहासन ग्रहण किया। इसके राजा बनते ही बहुत से अधीन राज्य फिर से आज़ाद हो गये। हर्ष-वर्द्धन ने अपने जीवन काल में चीन के साथ एक राजनैतिक मैत्री की थी। इसी के फल स्वरूप चीन का राजदूत "वाङ्गहु-एन-त्से" तीस सवारों के साथ हर्ष के राज दरबार में आ रहा था। इसी बीच उसके पहुँचने के पहले ही हर्षवर्द्धन की मृत्यु हो गई। इधर अर्जुन ने जब यह बात सुनी तो उसने चीनियों पर धावा कर दिया। इस आकस्मिक विपत्ति से ये सब लोग घबरा गये। केवल वाङ्गहुएन और उसके एक साथी ने किसी प्रकार भाग कर प्राण बचाए, बाकी उनके २८ साथी वहीं पर मार डाले गये। वहां से वाङ्गहुएन नैपाल पहुँचा। नैपाल उन दिनों तिब्बत के राज्य में था। वहां की रानी चीन की राजकुमारी थी। उन्होंने वाङ्ग को ८००० सिपाहियों की सहायता दी। इसी सेना की सहायता से वाङ्गहुएन ने तिरहुत को जीता वहां पर उसने तीन हज़ार सिपाहियों को काट डाला और १०००० को जल में डुबा दिया। इसके बाद अर्जुन और उसके कुटुम्ब को भी वाङ्ग ने पकड़ लिया। केवल ८००० सेना के बल से उसने १२००० सिपाहियों को कैद किया, १००० को मरवा डाला, और ५०० नगरों पर उसने अधिकार कर लिया।

सम्राट् हर्षवर्द्धन ने बयालीस वर्षों के [illegible] का शासन किया [illegible] इतने बड़े विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी [illegible] के कारण यही विशाल साम्राज्य [illegible] के [illegible] में लीन हो गया। [illegible]

चित्र, जो आज भी इतिहास के पृष्ठों पर अङ्कित है। हा दुर्दैव !

सम्राट् हर्षवर्द्धन का शासन

सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में प्रजा से बहुत हलका कर लिया जाता था। कृषकों के लाभ का छटवां हिस्सा लगान स्वरूप लिया जाता था। हर्षवर्द्धन के समय में राजकीय आमदनी का सब से बड़ा जरिया यही मालगुजारी थी।

मालगुजारी अथवा दूसरे प्रकार के करों द्वारा राज्य में जो आमदनी होती थी उसको चार भागों में विभक्त कर दिया जाता था। एक भाग के द्वारा सरकारी नौकरों का वेतन चुकाया जाता था। दूसरा भाग विद्वानों और गुणियों के आदर सत्कार में खर्च होता था, तीसरे भाग के द्वारा धार्मिक खर्च और चौथे से राजा के दूसरे २ खर्च चलते थे।

एक डिपार्टमेन्ट ऐसा खोला गया था जिसके द्वारा प्रत्येक प्रान्त में ऐसे २ कर्मचारी भेजे जांय जो उस प्रान्त में होनेवाली तमाम अच्छी बुरी घटनाओं को नोट कर लिया करें।

पुलिस का प्रबंध उस समय बहुत अच्छा था। यद्यपि हूणों वगैरह के आक्रमण से जनता में कुछ विशृंखलता आ गई थी; डाके और चोरी भी बढ़ने लग गई थी; पर दण्ड विधान की सख़्ती और पुलिस के सुप्रबन्ध से वह शीघ्र ही दूर हो गई। सड़कों का प्रबन्ध उस समय अच्छा न था।

हर्षवर्द्धन के समय में मन्त्रियों के अधिकार बहुत बढ़ गये थे। यों तो चन्द्रगुप्त के समय में भी मन्त्रियों का बहुत आदर था, तथापि हर्षवर्द्धन के समय में वह और भी अधिक बढ़

गया था। मन्त्रियों के परामर्श के बिना राजा कोई भी महत्व-पूर्ण कार्य्य एकाएक नहीं करता था।

मतलब यह है कि हर्षवर्द्धन इतने बड़े साम्राज्य का शासन बहुत ही योग्यता-पूर्वक करते थे। साल भर में वर्षा ऋतु को छोड़ कर वे प्रायः दौरे पर ही रहा करते थे। राज्य के सभी निवासियों को सम्राट् के सन्मुख अपने सुख दुख निवेदन करने का अवसर मिला करता था। हर्ष बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से प्रजा की मनोवृत्तियों का अध्ययन करके उनके अनुकूल कार्य्य करने की कोशिश किया करते थे। उन्होंने देश में एक राष्ट्रीयता स्थापन करने के लिये प्रयाग के अन्दर त्रिवेणी के तीर पर एक मेला डालना प्रारम्भ किया था। प्रति पांचवें वर्ष यह मेला पड़ता था। इस मेले को किसी प्रकार का राजनैतिक रूप देना उचित न समझ कर उन्होंने धार्मिक रूप ही देना उचित पसन्द किया। इस मेले का प्रधान उद्देश्य दान देना रक्खा गया। हर्षवर्द्धन हमेशा इस मेले में उपस्थित रह कर साधारण जनता की मनोवृत्तियों की थाह लेते रहते थे। उन्होंने ऐसे अवसरों पर कई बड़े २ झगड़ों को शान्त भी किया। गङ्गा और यमुना के सङ्गम पर एक रेतीले विशाल मैदान में यह मेला पड़ा करता था।

हर्षवर्द्धन के राज्यकाल के [illegible] वर्ष बाद [illegible] [illegible] है, उस साल यह मैदान बहुत ही सजाया गया था। मैदान के बीच में बहुत सी सुन्दर [illegible] झोंपड़ियाँ बनाई गई थीं। इस साल यह मेला [illegible] दिन तक लगा रहा था। पहले दिन एक बड़ा भारी जलूस निकला जिसमें हर्षवर्द्धन के [illegible] सभी राजा मौजूद थे। [illegible] [illegible] [illegible] के ऊपर

धार्मिक क्रियाएँ प्रारंभ हुईं। पूजा वगैरह हो चुकने पर हर्ष ने दान देना प्रारंभ किया। पहले दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को एक महाभोज दिया गया। उसके पश्चात् उन सबको सौ २ अशर्फी एक २ मोती और एक २ सूती वस्त्र दक्षिणा स्वरूप देकर विदा किया। उसके पश्चात् एक मास तक ब्राह्मण, जैन आदि भिन्न २ मतों के साधुओं को दान दिया गया। बाद में एक मास तक सभी अनाथ, रोगी, अपाहिज आदि लोग दान पाते रहे।

अन्त में सम्राट् ने राजकीय विभाग की आवश्यक सम्पत्ति को छोड़ कर गत पांच वर्षों में एकत्रित किया हुआ सब धन बांट दिया। यहां तक कि उन्होंने अपनी निजि सम्पत्ति भी सब की सब बाँट दी। पहनने के लिये वस्त्र भी अपनी बहन से भिक्षा में लेकर उन्होंने पहना। वस्त्र पहन कर उन्होंने बड़े ही प्रसन्न चित्त से दसों दिशाओं के बुद्धों की पूजा की।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसङ्ग

उपरोक्त मेले में जिस समय हर्षवर्द्धन गये थे उस समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसंग भी उनके साथ थे। ह्युएनसंग बौद्ध-धर्म के बड़े प्रकाण्ड विद्वान थे। नालन्द के विश्वविद्यालय में रह कर इन्होंने योगशास्त्र का अध्ययन किया था। जिस समय नालन्द में ये योगाभ्यास कर रहे थे उसी समय हर्ष-वर्द्धन ने इन्हें कई बार बुलवाया पर योगाभ्यास छोड़ कर इन्होंने वहां जाना अस्वीकार कर दिया। हर्षवर्द्धन के पश्चात् एक बार आसाम के राजा भास्करवर्म्मा ने इन्हें बुलाया। पहले तो इन्होंने जाने से इनकार कर दिया, पर अन्त में उनके बहुत

आग्रह करने पर ये उनके यहां गये। यह सुन कर हर्षवर्द्धन को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने भास्करवर्म्मा को लिखा कि, हुएनसंग को तुरंत हमारे पास भेज दो। पहले तो भास्करवर्म्मा राजी न हुए, पर अंत में बहुत धमकी देने पर वे स्वयं ही उन्हें लेकर हर्ष के राजदरबार में चले आये।

यों तो पहले ही से हर्षवर्द्धन को धर्म पर बहुत रुचि थी, पर हुएनसंग के सत्संग से वह बहुत अधिक बढ़ गई। बौद्धों का एक संघ नियुक्त हुआ था जिसका प्रतिवर्ष अधिवेशन होता था। हुएनसंग के साथ होने के पूर्व सम्राट् हीनयान मतानुयायी थे, पर हुएनसंग के कई प्रमाणों ने महायान पंथ को उत्तम साबित कर दिया। इस पर हर्षवर्द्धन ने कई दार्शनिकों को हुएनसंग से शास्त्रार्थ करने के लिए बुलाया। पर पन्द्रह दिन तक निरंतर घोषणा करने पर भी जब कोई हुएनसंग से शास्त्रार्थ करने को तैयार न हुआ तो सब लोगों ने हुएनसंग को विजयी माना, और तदनुसार सम्राट् ने और उनकी बहन राज्यश्री ने महायान पंथ को स्वीकार किया।

इसके पश्चात् सन् ६६४ में एक बृहत् सभा की गई जिसमें बहुत से अधीन राजा भी सम्मिलित हुए थे। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण मिलाकर कोई ७००० साधु आए थे। सभा के लिए एक बहुत बड़ा मण्डप तैयार किया गया था। उसके पास ही एक और छोटा मण्डप बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करने के लिए बनाया गया था। पहले दिन यह प्रतिमा हाथी पर रख कर घुमाई गई। और उसके पश्चात् मण्डप में ले जाकर सिंहासन पर रख दी गई।

उस सभा के सभापति ह्यूएनसङ्ग ही बनाये गए थे। उन्होंने सारी जनता को इस आशय का एक चैलेञ्ज दिया कि, "जो कोई मेरे सिद्धान्त अथवा तर्कों को गलत साबित कर देगा, उसे पूर्ण अधिकार है कि वह उसी समय मेरे सिर को काट डाले" बहुत दिनों तक शास्त्रार्थ हुआ, पर ह्यूएनसङ्ग को कोई भी पराजित न कर सका।

इधर तो शास्त्रार्थ वगैरह का पचड़ा खतम हो रहा था, लोग हर्षोल्लास में मग्न थे, उधर एकाएक मण्डप में आग लगी। मण्डप का एक भाग धांय २ कर जलने लगा। लोग होश हवास भूल कर इधर उधर भागने लगे। इसी धमाचौकड़ी में एक व्यक्ति छुरा लेकर हर्षवर्द्धन को मारने के लिये दौड़ा। परन्तु वह तुरंत ही पकड़ लिया गया। उससे मालूम हुआ कि यह सब करतूत धर्म द्वेषी ब्राह्मणों की है। ब्राह्मणों ने ही उस मण्डप में आग लगवाई है। इस पर कई ब्राह्मणों को फांसी दी गई और कईयों को देश निकाला।

कई लेखकों का अनुमान है कि, यह सब हर्षवर्द्धन की चालबाज़ी थी। उस व्यक्ति को धमकी वगैरह देकर उन्होंने ब्राह्मणों के विरुद्ध बनावटी प्रमाण इकट्ठे कर लिये। और धर्मान्धता के वशीभूत होकर कई निरपराध ब्राह्मणों को मरवा डाला। इस कथन की पुष्टि में वे एक और घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"मुलतान में एक बार हर्षवर्द्धन ने लकड़ी का एक उत्तम मकान बनवाया। और उसमें बड़े ही आदर सत्कार के साथ कई पारसी उपदेशकों को रक्खा। अन्त में एक दिन धोखे

से उसने उस मकान में आग लगाकर १२००० निरपराध मनुष्यों की हत्या करवा डाली।

दोनों बातों में से कौनसी बात सत्य है यह तो नहीं कहा जा सकता। पर हर्षवर्द्धन के समान उदार नरेश के द्वारा ऐसा हेय कार्य्य सम्पन्न हो सकता है इस बात का समर्थन हमारा अनुमान तो नहीं कर सकता।

ह्यूएनसङ्ग का वर्णन

मेगास्थनीज़ ही की तरह ह्यूएनसङ्ग ने भी तत्कालीन भारतवर्ष का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। राज्य-प्रबन्ध के विषय में उसने जो कुछ लिखा है उसका सार हम ऊपर लिख आए हैं। शेष अन्य बातों का संक्षिप्त रूप से नीचे विवेचन कर देते हैं।

विद्या-विभाग

हर्षवर्द्धन के समय के विद्या विभाग का वर्णन करते हुए ह्यूएनसङ्ग लिखते हैं कि, हर्ष के राज्य में पांच वर्ष की अवस्था में ही बालक वर्णमाला का पढ़ना आरम्भ कर देते थे। इसके पश्चात् उन्हें "सिद्धम्" (जिसे आज कल "सीधो" कहा जाता है, जिसका प्रारम्भ "सिद्धः वर्णः समाम्नायः" आदि शब्दों में होता है) आदि पढ़ाया जाता था। सात वर्ष की अवस्था में बालकों को व्याकरण, शिल्प, कला, [illegible], [illegible], दर्शन आदि पंच शास्त्रों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया जाता था। मतलब यह कि, विद्यार्थियों को सब शास्त्रों में निपुण करने की चेष्टा की जाती थी। तीस वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी ब्रह्मचर्य्यपालन

का पालन करते हुए विद्याध्ययन करते थे, उसके पश्चात् गुरु-दक्षिणा चुका कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे।

शिक्षा प्रायः मौखिक ही हुआ करती थी। उस समय के अध्यापकों की प्रशंसा करते हुए चीनी यात्री ह्यूएनसङ्ग लिखते हैं कि, वे आलसियों को कर्मण्य और मन्द बुद्धियों को तीव्र बनाते थे। इन अध्यापकों के अतिरिक्त उस समय परिव्राजक भिक्षु भी बहुत काम करते थे।

उस समय कई स्थानों पर बड़े २ विश्वविद्यालय बने हुए थे। जिनमें तक्षशिला, काशी, उज्जैन और नालन्द के विश्वविद्यालय बहुत ही प्रसिद्ध थे। तक्षशिला में वैद्यक की, उज्जैन में ज्योतिष की और नालन्द में सभी शास्त्रों की उच्चतम पढ़ाई होती थी। पाठकों की जानकारी के निमित्त हम यहां पर बहुत ही संक्षिप्त में दो विद्यालयों का विवेचन कर देते हैं। इनके विवेचन से केवल हर्षवर्द्धन के समय के विद्या प्रचार का ही पता न चल जायगा, प्रत्युत पूर्व लिखित सभी सम्राटों के समय के विद्या-विभाग की जानकारी इस विवेचन से हो जायगी। क्योंकि ये विश्वविद्यालय प्रायः सभी सम्राटों से पहिले के बने हुए थे।

तक्षशिला विश्वविद्यालय

ईसवी सन् के ६०० पूर्व भारतवर्ष के विश्वविद्यालय की ख्याति सारे संसार में फैली हुई थी। उस समय में यह भारत का सब से बड़ा विश्वविद्यालय था। इसके अन्दर सोलह विभाग थे, जिनमें भिन्न २ प्रकार के सोलह विषयों की शिक्षा दी जाती थी। जो मनुष्य जिस विषय का पारदर्शी विद्वान् होता,

वही उस विषय का प्रोफेसर बनाया जाता था। साहित्य, विज्ञान दर्शन, व्याकरण, राजनीति, धर्मशास्त्र, आदि सभी विषयों की पढ़ाई इसमें होती थी। संसार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कौटिल्य, और प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने इसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी। खास करके वैद्यक विद्या के लिए तो यह विद्यालय अद्वितीय था। बौद्धकाल के सुप्रसिद्ध वैद्यजीवक जिन्होंने राजा बिम्बसार को एक असाध्य बीमारी से मुक्त किया था इसी विद्यालय के विद्यार्थी थे। जीवक ने सात वर्ष तक इस जगत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में औषधि विज्ञान का अध्ययन किया था। स्वयं बुद्धदेव भी इसी विद्यालय में आत्रेय ऋषि के पास वैद्य-विज्ञान का अध्ययन करने आए थे।

अशोक के समय में इस विद्यालय ने बहुत उन्नति की। उसके पश्चात् इसकी उतनी उन्नत अवस्था तो न रही फिर भी साधारणतया सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में भी इसका काम अच्छा चल रहा था।

नालन्द विश्वविद्यालय

तक्षशिला से भी बढ़कर हर्षवर्द्धन के समय में यदि भारत-वर्ष में कोई विश्वविद्यालय था तो वह नालन्द का विश्वविद्यालय था। [illegible] महानगर से [illegible] कोस की दूरी पर [illegible] विद्यार्थी विद्याध्ययन के निमित्त आते थे। हुएनसंग के समय में इस विद्यालय में पढ़नेवालों की संख्या दस हजार थी। जिस समय योरप के निवासी बिलकुल जङ्गली अवस्था में थे, उस समय ये लोग विश्वविद्यालय का [illegible]

समय यह विश्वविद्यालय अपने ज्ञान किरणों को सारे संसार में फैला रहा था। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनसङ्ग ने भी इस विद्यालय में विद्याध्ययन किया था। इस विद्यालय की इमारत बड़ी विशाल और सुन्दर थी। उसमें एक ऐसा वृहत् पुस्तकालय था; जिसकी जोड़ का पुस्तकालय तत्कालीन संसार में कहीं भी न था। इस विद्यालय में धार्म्मिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थी। बौद्ध धर्म्म सम्बन्धी शिक्षा की प्रधानता होते हुए भी वैदिक-धर्म्म-शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी। न्याय, दर्शन, व्याकरण, विज्ञान, शिल्प—कला, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान आदि कई विषयों की शिक्षा इस विद्यालय में दी जाती थी। इस विद्यालय में किसी भी प्रकार की मानसिक परतन्त्रता न थी। सभी को अपने २ विचार प्रकाशित करने की बिलकुल आज़ादी थी। फलतः यहां पर तर्कशास्त्र का बहुत अच्छा विकास हुआ था। इसमें दूर २ के विद्यार्थी तर्कशास्त्र में भरती होने के लिए आते थे। पर उनमें से थोड़े से तीव्र मस्तिष्क लोगों को छोड़ कर सब के सब इस गहन विषय से घबरा जाते थे और लाचार होकर दूसरे विषय की शरण लेते थे। बहुत ही कम विद्यार्थी ऐसे निकलते थे जो तर्कशास्त्र को अन्त तक निबाहते थे।

इस विद्यालय में विद्यार्थी बड़े उत्साह से पढ़ते थे। कहीं पर दङ्गा फ़िसाद नहीं होता था। हर्षवर्द्धन के समय में १००० साधु सूत्र और शास्त्र सम्बन्धी दस ग्रन्थों के पण्डित थे। ५०० ऐसे थे जो ३० ग्रन्थों में पारङ्गत थे। ह्यूएनसङ्ग और उसके साथी ५० ग्रन्थों के पण्डित हो गये थे। शीलभद्र नामक

विद्यार्थी सब शास्त्रों में पारङ्गत था। ह्यूएनसङ्ग ने इनको "सद्धर्म-कोष" संज्ञा से सम्बोधित किया है।

मतलब यह कि, हर्षवर्द्धन के समय में यहां का विद्या विभाग बहुत उन्नति पर था। स्वयं हर्षवर्द्धन बड़े विद्या-व्यसनी थे। अपनी ही प्रतिभा के बल से उन्होंने हिन्दुस्थान के बड़े २ कवियों में स्थान पा लिया। उनके लिखे हुए "नागानन्द" "रत्नावली" और "प्रियदर्शिका" नामक तीन नाटक आज भी संस्कृत साहित्य के गौरव को बढ़ा रहे हैं।

ग्राम्यशासन।

हर्षवर्द्धन के समय में ग्राम्यशासन का प्रबन्ध बहुत उत्तम था। प्रत्येक ग्राम में एक २ पंचायत या सभा नियुक्त रहती थी। उसकी देखभाल के लिए राज्य की ओर से एक कर्मचारी नियुक्त रहता था। उसके अधिकार बहुत ही कम होते थे। कई ग्राम्य सभाओं के ऊपर एक महासभा रहा करती थी। यदि ग्राम्य सभा कभी किसी कार्य्य में त्रुटि करती, तो महासभा उसे उचित दण्ड देती थी। महासभा के सदस्य छः विभागों में विभक्त रहते थे। (१) जल विभाग (२) उद्यान-विभाग (३) मन्दिर विभाग (४) कोष विभाग (५) न्याय विभाग और (६) सामान्य निरीक्षण विभाग। इन विभागों का कार्य्य उनके नाम से ही प्रत्यक्ष है अतः उन पर प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं।

महासभा का चुनाव।

महासभा के सदस्यों में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक समझा जाता था।

(१) जो आदमी कम से कम दो बीघा ऐसी भूमि का स्वामी हो, जिसका लगान वह सरकार में जमा करवाता है। इसके अतिरिक्त ग्राम में उसका एक घर बना हुआ हो।

(२) वह कम से कम ३५ वर्ष का और अधिक से अधिक ७० वर्ष का हो।

(३) जो आदमी मंत्र ब्राह्मण पढ़ाने की योग्यता रखता हो, जो एक वेद और एक भाष्य जानता हो वह एक बीघा भूमि का स्वामी होने पर भी सदस्य हो सकता है।

(४) जो आदमी मद्य को स्पर्श भी न करता हो।

(५) जो आदमी गत तीन वर्षों में महासभा का सदस्य न चुना गया हो।

इन पांचों ही शर्तों से युक्त बहुत से मनुष्यों के नाम चुन २ कर ग्रामवासी कागज़ के पुर्जों पर लिख देते थे। उन सब पुर्जों को बांध कर मन्दिर के अन्दर लाते थे। वहां पर सब लोग इकट्ठे होकर एक नाबालिग लड़के को चुनते थे। वह लड़का इन सब पुर्जों को बिखेर कर उनमें से मन चाहे तीन पुर्जों को अलग कर देता था। उन तीनों पर जिनके नाम निकलते वे हीं महासभा के सदस्य चुने जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि, चुनाव की यह प्रणाली बिलकुल निर्दोष नहीं, कई अयोग्य आदमी भी चुनाव में घुस सकते हैं, फिर भी उस समय के अनुकूल यह बहुत ही अच्छी थी।

सम्राट् द्वितीय पुलकेशी

अभी तक हम पाठकों के सन्मुख उत्तरीय भारत के प्रतापी सम्राटों का ही वर्णन करते आ रहे हैं। पर अब प्रसंगवश इस स्थान पर हम दक्षिण खण्ड के एक प्रतापी सम्राट् का वर्णन कर देना भी आवश्यक समझते हैं। यद्यपि केवल एक ही सम्राट् का इतिहास दे देने से ही दक्षिण हिन्दू सम्राटों का वर्णन पूरा नहीं हो जाता, तथापि सम्राट् पुलकेशी एक ऐसे सम्राट् हैं जिनका प्रभावी इस पुस्तक के पूर्वाध्यायों से कुछ सम्बन्ध रह चुका है। अतएव इनसे पाठकों का संक्षिप्त परिचय इसी पुस्तक में करा देना हम आवश्यक समझते हैं। शेष दक्षिणात्य सम्राटों का वर्णन यदि हो सका तो हम इस पुस्तक के दूसरे भाग में विस्तार रूप से करेंगे।

हर्षवर्द्धन का इतिहास लिखते हुए हम यह बतला चुके हैं कि, जिस समय सारे उत्तरीय भारत में हर्षवर्द्धन का साम्राज्य स्थापित हो रहा था, उस समय दक्षिण में चालुक्यवंशीय सम्राट् पुलकेशी का प्रताप मध्याह्न दिवाकर की भाँति अपना तेज फैला रहा था। यह सम्राट् कितना अधिक प्रतापी था, यह पाठकों को आगे पढ़कर मालूम होगा। यहाँ पर हम संक्षेप में उसके राज्य शासन का वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे।

सम्राट् पुलकेशी के पूर्वज

सम्राट् पुलकेशी सोलंकी वंश के क्षत्रिय थे। सोलंकियों के कितने ही ताम्रपत्रों, शिलालेखों और विक्रमांक देवचरित्र से पाया जाता है कि उनका राज्य पहले अयोध्या में रहा और उसके पश्चात् ये लोग दक्षिण में गये। उदयन के पश्चात् ५९ राजाओं ने अयोध्या में और उसके पीछे १६ राजाओं ने दक्षिण में राज्य किया। उसके पश्चात् सोलंकियों की राजलक्ष्मी कुछ समय तक दूसरों के हाथ में रही। और उसके पश्चात् राजा जयसिंह ने सोलङ्की राज्य की पुनः स्थापना की। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि सोलंकियों का नवीन इतिहास वस्तुतः राजा जयसिंह से ही आरम्भ होता है। जयसिंह ने राठौड़ों तथा अन्यवंश के राजाओं को पराजित कर सोलंकियों के राज्य का पुनरुद्धार किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र रण राग और रणराग के वाद उसका पुत्र प्रथम पुलकेशी सिंहासनारूढ़ हुआ। प्रथम पुलकेशी सोलंकीवंश का बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। इस राजा ने "वातापी" * नगरी को अपनी राजधानी बनाया। कहा जाता है कि इसने अश्वमेध, अग्निष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, बहुसुवर्ण और पौण्डरीक नामक यज्ञ किये थे। इसके पश्चात् इसका बड़ा पुत्र कीर्त्तिवर्म्मा ईस्वी सन् ५६७ में सिंहासनारूढ़ हुआ। एहोल के शिलालेख में लिखा है कि, इस राजा ने नल, मौर्य्य और कदम्बवंश को नष्ट किया। उस

---

* वातापी (बादामी) बम्बई अहाते के बीजापुर जिले का बादामी विभाग मुख्य शहर है।

समय में नलवंशी राजा नलवाड़ी* के मौर्यवंशी कोंकण के और कदम्बवंशी राजा उत्तरी कानड़ा प्रदेश के मालिक थे। कीर्ति-वर्म्मा के पश्चात् उसका छोटा भाई मंगलीश उसका उत्तराधि-कारी हुआ। इसने कलचुरी वंश के राजा को पराजित किया।

मंगलीश ने अपने बड़े भाई कीर्त्तिवर्म्मा के पुत्र द्वितीय पुल-केशी को जो कि राज्य का कानूनन हकदार था, राज्य का उत्त-राधिकारी न बना कर अपने पुत्र को राज्य देने का यत्न किया, पर इस विषय में वह कृतकार्य्य न हो सका, और अन्त में इसी कारण उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। इसके पश्चात् हमारे चरित्र नायक द्वितीय पुलकेशी सिंहासनारूढ़ हुए।

मंगलीश और पुलकेशी के बीच आपसी झगड़ा होते देखकर कितने ही अधीन राजा स्वतंत्र होने की कोशिश करने लगे, और कितने ही शत्रु उसके राज्य दबा लेने की चेष्टा में प्रयत्नशील हुए। पर पुलकेशी ने अपने बाहुबल और बुद्धि के बल से उन सब को शान्त कर दिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत उसने अपने राज्य का विस्तार और भी अधिक बढ़ा लिया। जिस प्रकार मौर्य वंश में अशोक, और गुप्त वंश में चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रताप शाली हुए, उसी प्रकार चालुक्य वंश में द्वितीय पुलकेशी हुआ। उस समय के भारत में हर्षवर्द्धन और पुलकेशी यही दो सम्राट् सबसे अधिक प्रतापी थे। नर्मदा के उत्तर की ओर हर्षवर्द्धन का साम्राज्य था और दक्षिण ओर पुलकेशी का साम्राज्य था। हर्षवर्द्धन ने सब राजाओं को जीते हुए, दक्षिणी भारत को हस्तगत करने के लिए पुलकेशी पर भी चढ़ाई की थी, परन्तु

* [illegible]

पुलकेशी के आगे उन्हें मुँह की खानी पड़ी और वे यहाँ से पराजित होकर वापस लौटे।

पुलकेशी की विजय के वृत्तान्त एहोल के शिलालेख में मिलते हैं। पाठकों की जानकारी के निमित्त हम उस शिलालेख का हिन्दी अनुवाद नीचे उद्धृत करते हैं—

"छत्र भंग होने के अर्थात् मंगलीश के मारे जाने के पश्चात् राज्य पर शत्रुओं का घना अन्धकार छा गया जिसको पुलकेशी ने अपने अतुल प्रताप रूप प्रकाश से मिटाया। ऐसे समय में अवसर पाकर अप्पायिक और गोविन्द (राठौड़ वंशी) अपनी हाथियों की सेना के साथ भीमा नदी के उत्तर प्रदेश पर चढ़ आये। जिनमें से अप्पायिक तो हार कर भाग गया और गोविन्द ने सन्धि का लाभ उठाया। अपनी महान् सैन्य के साथ पुलकेशी ने वरदा नदी के तट बड़े स्मृद्धिवाले वनवासी (कदम्ब वंशियों की राजधानी) के किले पर घेरा डाल कर उसे विजय किया। गंगा वंशी (गंगा वंशी उस समय मैसूर राज्यान्तर्गत गंगवाड़ी के राजा थे) और नागवंशी (मलावार के राजा) राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार की। कौंकण के मौर्य्य वंशी राजाओं को उसकी प्रचण्ड सेना ने परास्त किया। पश्चिम समुद्र की लक्ष्मी रूपिणी पुरी (कौंकण के मौर्य्य वंश की राजधानी) पर सैकड़ों नौकाओं से हमला कर उसे जीत लिया। लाठ (मही और नर्मदा नदी के बीच वाला गुजरात देश का हिस्सा) मालव और गुर्जर के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार की। उसने अपरिमित स्मृद्धिशाली अनेक सामन्त वाले राजा श्रीहर्ष की हस्ति सैन्य का संहार कर उसके

हर्ष को मिटा दिया। विन्ध्याचल पर्वत के निकट नर्मदा नदी के तट पर उसने अपनी प्रबल सेना रख छोड़ी थी। अपनी उत्साह शक्ति और प्रभुत्व शक्ति के प्रभाव से उसने ९९००० गाँवों से युक्त तीन देशों से बने हुए महाराष्ट्र प्रान्त को अपने अधिकार में कर लिया (जान पड़ता है यह संख्या बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण है) दूसरे कई राजाओं को जीतने वाले कोशल और कलिङ्ग के राजा उसके सैन्य बल को देखकर भयभीत हो गये। पिष्टपुर (मद्रासप्रान्तान्तर्गत) को पीस कर वहां का किला उसने हस्तगत कर लिया। कुनाल वालों का (पिठापुरम् से दक्षिण में कोलैर नामक जलाशय के निकट) संहार कर वहां के जल को रुधिर से लाल कर दिया। बड़ी सेना के साथ कांजीवरम् को घेर कर वहां के पल्लववंशी राजाओं को मार भगाया। चोल देश जीतने की इच्छा से हाथियों की सेना सहित कावेरी नदी पार करने के पश्चात् चोल, केरल और पाण्ड्य राजाओं से भी उसने मैत्री कर ली परंतु पल्लव राजा के सैन्य का नाश किया। इस प्रकार चारों ओर विजय कर विविध राजाओं [illegible] बादामी में आकर राज्य करने लगा।"

उपर्युक्त शिलालेख में यद्यपि [illegible] बातें अतिशयोक्तिपूर्ण होती हैं तथापि इसकी [illegible] घटनाओं को ही [illegible] जाना जा सकता है कि सम्राट् पुलकेशी [illegible]

[illegible]

इतिहास लेखक अपने अरवी ग्रन्थ में लिखता है कि, ईरान के वादशाह द्वितीय खुसरु के छत्तीसवें राज्यवर्ष में उसका दूत एक पत्र और कुछ भेंट की वस्तुएँ लेकर पुलकेशी के राजदरवार में गया। इसके वदले में पुलकेशी का दूत भी पत्र और सौगात की वस्तुएँ लेकर ईरान गया था।

पुलकेशी का शासन तथा अन्य वातें

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसंग—जिसका विस्तृत वर्णन हर्ष-वर्द्धन के इतिहास में कर दिया गया है—घूमता घामता सन् ६३९ ईस्वी में महाराष्ट्र देश में पहुँचा था। अपनी यात्रा के विवरण में उसने वहां की तत्कालीन परिस्थिति और राज्यशासन का वर्णन किया है। हुएनसंग लिखता है—"इस देश की परिधि लगभग १००० माइल है। राजधानी के पश्चिम ओर एक वड़ी नदी वहती है। राजधानी की परिधि करीव ६ माईल है। यहां की जमीन उत्तम और उपजाऊ है जिसमें खेती वरावर होती रहती है। आवहवा यहां की ऊष्ण है। लोग सादे, प्रमाणिक, ऊँचे कद वाले, स्वभाव के कठोर, वदला लेने वाले, उपकार का एहसान माननेवाले, और शत्रु के लिए निर्दयी हैं। अपमान करने वाले का वदला चुकाते समय वे अपनी जान की भी परवाह नहीं करते। लेकिन यदि कोई आपत्ति के समय मदद मांगे तो वे अपने सुख दुख की पर्वाह न करते हुए उसकी सहायता को तैय्यार हो जाते हैं। किसी शत्रु से वदला लेने के पूर्व उसे साव धान कर देना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। फिर दोनों शस्त्र लेकर एक दूसरे पर हमला करते हैं, जव एक भाग जाता है तो

दूसरा उसका पीछा करता है। पर आत्म-समर्पण कर देने पर वे उसे छोड़ देते हैं। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार कर आवे तो उसको दण्ड नहीं दिया जाता, प्रत्युत उसको स्त्री की पोशाक भेंट की जाती है जिसकी लज्जा के मारे वह स्वयं ही मरजाता है। राज्य की ओर से कई योद्धा नियुक्त हैं। युद्ध के लिए तैय्यार होते समय ये लोग पहले नशा करके मग्न हो जाते हैं फिर उनमें से एक २ पुरुष हाथ में भाला लेकर ललकारता हुआ आगे बढ़ता है। यदि उनमें से कोई योद्धा मार्ग में चलते हुए किसी आदमी को मारडाले तो उन्हें सजा नहीं होती। जब ये लोग बाहर लड़ने को जाते हैं तो अपने आगे ढोल बजाते हैं। और सैकड़ों हाथियों को मतवाले कर अपने साथ ले जाते हैं। फिर एक साथ आगे बढ़कर हरएक वस्तु को बर्बाद कर देते हैं, जिससे कोई शत्रु उनके आगे नहीं ठहर सकता।"

"इन योद्धाओं और हाथियों के कारण यहां का राजा अपने पड़ोसियों की ओर तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। राजा जाति का क्षत्रिय है और उसका नाम पु-लो-कि-शे (पुलकेशी) है। उसके विचार और कार्य विस्तृत हैं। उसके उपकार से दूर २ के लोगों को लाभ पहुँचता है। और उसकी प्रजा पूर्ण विनय के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती है। इस समय शीलादित्य ने पूर्व से पश्चिम तक के देशों विजय कर लिये हैं, परन्तु केवल इस देशवाले ही उसके अधीन नहीं हुए हैं। यहां वालों को दण्ड देने और अधीन करने के लिए उन्होंने अपने राज्य के पांचों विभागों की सेना को एकत्रित कर, तथा सब देशों के प्रसिद्ध सेनापतियों को [illegible] [illegible]

देखरेख में युद्ध किया, फिर भी वे यहां की सेना को न जीत सके।"

"यहां के लोग विद्यानुरागी हैं। वैदिक धर्म तथा बौद्ध धर्म दोनों के ग्रन्थों को पढ़ते हैं। इस देश में करीब १०० संघाराम हैं जिनमें ५००० साधु रहते हैं जो महायान तथा हीनयान दोनों मतों को मानने वाले हैं। यहां पर करीब १०० देव मन्दिर हैं जिनमें बहुत से भिन्न २ मतावलम्बी वेद धर्मानुयायी रहते हैं।"

"यहां पर राजधानी के भीतर और बाहर मिला कर पांच स्तूप हैं। जो ४ अतीत बौद्धों के फिरने और बैठने के स्थानों के सूचक हैं। ये सम्राट् अशोक के बनाए हुए हैं। इनके अतिरिक्त ईंट और पत्थर के बने हुए स्तूप तो बहुत से हैं। राजधानी से थोड़ी दूर पर एक संघाराम है जिसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की पाषाण मूर्त्ति है। उस मूर्त्ति का चमत्कार दूर २ तक प्रसिद्ध है। क्योंकि उसकी गुप्त प्रार्थना करने वालों में से बहुतों की कामना पूर्ण हुई है।"

"इस देश की पूर्वीय सीमा पर ऊँचे ऊँचे शिखरों वाला एक पहाड़ है जिसकी श्रेणी बहुत लम्बी चली गई है। इस पर्वत के नीचे के अन्धेरे हिस्से में एक संघाराम बना हुआ है (यह अजण्टा की प्रसिद्ध गुफाओं का वर्णन है जो विंध्याद्रि पर्वत को खोद २ कर बनाई गई हैं) जिसके ऊंचे मण्डप और उसके बाजू के स्थान, चट्टानों को खोद कर भीतर बनाए गए हैं। यह संघाराम अर्हत अचल का बनवाया हुआ है जो पश्चिमी भारत का निवासी था।"

ह्यूएनसंग के इस वर्णन से तत्कालीन परिस्थिति पर साधा-

रणतया अच्छा प्रकाश पड़ जाता है अतः इस विषय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं । हां, इतना अवश्य है कि, जिस समय ह्युएनसंग वहां पर गया था, उस समय पुलकेशी राज्य पूर्ण उन्नति पर था । लेकिन यह स्थिति अन्त तक न रही । क्योंकि, तत्कालीन शिलालेखों से मालूम होता है कि, नृसिंह वर्म्मा नामक किसी पल्लववंशी राजा ने पुलकेशी को हरा दिया था । यद्यपि यह शिलालेख पुलकेशी के शत्रुओं का लिखा हुआ है, तथापि उसकी सत्यता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि पल्लववंशी राजा नन्दिवर्म्मा के ताम्रपत्र में भी नृसिंह वर्म्मा को वातापी जीतने वाला लिखा है । इसके अतिरिक्त महावंश में भी लिखा है कि पुलकेशी और नृसिंह वर्म्मा के बीच कोई युद्ध हुआ था ।

केवल नृसिंह वर्मा ही उसका शत्रु हो यह बात न थी । प्रत्युत चोल, पाण्ड्य और केरल के राजा भी नृसिंह वर्म्मा के सहायक थे । मतलब यह कि, पुलकेशी अपने देहान्त के समय राज्य को बहुत विपत्तिग्रस्त अवस्था में छोड़ गया था ।



चौहान-साम्राज्य

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच भारतवर्ष की स्थिति

महाराजा हर्षवर्द्धन तक का क्रम-बद्ध इतिहास हम पाठकों की सेवा में उपस्थित कर चुके हैं। साथ ही हम यह भी लिख चुके हैं कि हर्षवर्द्धन की मृत्यु के साथ ही उनका निर्माण किया हुआ साम्राज्य भी बिखर गया था। अब हम पाठकों के सम्मुख उसके पश्चात् भारत की जो गति हुई उसका संक्षिप्त विवरण रखना चाहते हैं।

भारतवर्ष पर मुसलमानी आक्रमण

हम पहले लिख आए हैं कि जिस समय संसार की प्राचीन सभ्य जातियाँ अपने हाथों अपने समाधि मंदिर बना रही थीं—जिस समय संसार-प्रसिद्ध आर्य्य-जाति सीढ़ी दर सीढ़ी पतन के गड्ढे की ओर खिसकती हुई जा रही थी, उस समय अरब की अर्द्ध-सभ्य जातियां शीघ्रतम गति से अपनी उन्नति कर रही थीं। महम्मूद साहब का नवीन मजहब उस समय संसार के अन्दर एक क्रान्ति उत्पन्न कर रहा था। इस मजहब की कुछ मुख्य २ बातों का विवेचन भी हम ऊपर कर आए हैं।

अस्तु, ज्यों २ इस मजहब का प्रचार होता गया—ज्यों ज्यों इसके अनुयायी बढ़ते गये त्यों २ इस मजहब में राजनीतिकता भी घुसने लगी। अब इस मजहब के अनुयायियों को अपना निजी प्रदेश बहुत सङ्कीर्ण मालूम होने लगा। उन्हें उनके हृदय में दूसरे देशों को विजय कर, अपना राज्य बढ़ाने और उन देशों को लूटने की धुन सवार हुई और इसके साथ ही उनकी शनिदृष्टि भारतवर्ष पर भी पड़ी।

मुहम्मद कासिम की चढ़ाई

जिस समय खलीफ़ा इनका सतीत्व नष्ट करने को उतारू हुआ, उस समय इन्होंने एक कौशल रचकर अपने सतीत्व की रक्षा कर ली। इन्होंने खलीफा को बड़ी नम्र भाषा में कहा कि हम आजन्म पर्यन्त आपकी सेवा में रहने को प्रस्तुत थीं। पर खेद है कि दुष्ट मुहम्मद कासिम ने हमें आपके काम को न रक्खा। उसने आपके पहले ही हमारा सतीत्व भ्रष्ट कर दिया है। यह सुनते ही खलीफा आग बबूला हो गया और उसने मुहम्मद कासिम को जीते जी ही मृतक जानवर की खाल में मढ़वा दिया। पर जब सच्ची घटना मालूम हुई तो उसे मुहम्मद कासिम के लिए बड़ा ही दुःख हुआ। और उन लड़कियों पर तो उसे इतना क्रोध आया कि उन्हें बड़ी निर्दयता से मरवा डाला।

मुहम्मद कासिम के आक्रमण के पश्चात् सिन्ध हमेशा मुसलमानों के अधिकार में रहा।

दूसरा मुसलमानी आक्रमण

महमूद गज्नवी की चढ़ाइयाँ

मुहम्मद कासिम के आक्रमण के पश्चात् लगभग दो सौ ढाई सौ वर्ष तक भारतवर्ष पर कोई मुसलमानी आक्रमण न हुआ। पर सन् ९८६ में भारतवर्ष पर एकाएक विपत्ति का पहाड़ टूटा। इसी वर्ष गज़नी के सुबुक्तगीन नामक अमीर ने बड़े ही ज़ोर शोर के साथ भारतवर्ष पर आक्रमण किया। उस समय पंजाब में जयपाल नामक राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी भटिण्डा में थी। जयपाल के साथ सुबुक्तगीन की

दो तीन लड़ाइयां हुईं। इन लड़ाइयों में उसकी तथा उसके साथियों की हार हुई। इसके पश्चात् सन ९९१ में संभवतः कई हिन्दू राजाओं ने एकत्रित होकर कुर्म उपत्यका के पास सुबुक्तदीन का सामना किया। पर देश के दुर्भाग्य से यहां पर भी इन लोगों की हार हुई। इस पराजय से व्यथित हो राजा जयपाल ने आग में जल कर आत्म-हत्या कर ली। इसके पश्चात् सुबुक्तदीन के पुत्र महमूद गजनवी ने भारतवर्ष पर करीब सोलह आक्रमण और किये जिनमें से १२ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन सब में सोमनाथ के मन्दिर का आक्रमण सब से ही अधिक प्रसिद्ध है। इन सब आक्रमणों में महमूद गजनवी भारतवर्ष से अनुमानातीत सम्पत्ति लूट कर तथा लाखों मनुष्यों को कैद कर ले गया जिनको उसने वहां बहुत ही सस्ते दर में बेच दिया।

इस प्रकार लगातार मुसलमानों के आक्रमण होने से सारा देश भयभीत हो गया। देश के अन्दर ऐसा कोई भी बल या तेज तो था ही नहीं, जिसके द्वारा वह इन आततायियों से अपनी रक्षा करता। सारी हिन्दूजाति के अन्दर से सङ्गठन-शक्ति का बीज लोप हो चुका था। शारीरिक बल उस समय भी हिन्दुओं में मौजूद था, और वह तो शायद अब तक मौजूद है, पर नैतिक बल बिलकुल नष्ट हो चुका था और शारीरिक बल पर जाति का जीवित रहना बहुत ही कठिन है। नैतिक बल से हीन जातियां किस प्रकार गुलामी के बन्धन में जकड़ जाती हैं, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण हिन्दू जाति है। पाठकों को आगे चलकर मालूम होगा कि उस समय भारतवर्ष का कितना पतन। नैतिक पतन हो चुका था और किस प्रकार

वह उस तेज के अभाव के कारण गुलामी के अन्धकार में पड़ा।

जिस समय अधिकांश भारतवर्ष मुसलमानी आक्रमणों से जर्जरित होकर भयभीत हो रहा था, उस समय भी यहां पर कुछ राज्य ऐसे बचे हुए थे जो अब तक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा बिलकुल निर्भीक चित्त से कर रहे थे, जिनकी प्रजा में अब तक विदेशी आक्रमणकारियों का भय न घुसा था, और जो अब भी अपने शौर्य्य के सम्मुख संसार की सब शक्तियों को तुच्छ समझते थे। इन राज्यों में से चौहान वंशियों का राज्य भी एक था। यह वंश उस समय उन्नति के शिखर पर आरूढ़ था। आगे जाकर इसी वंश के वंशजों ने अपने राज्य को इतना बढ़ाया कि उस राज्य को यदि साम्राज्य भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रसिद्ध सम्राट् पृथ्वीराज भी इसी वंश के वंशज थे। यदि दैव हिन्दुस्थान के अनुकूल होता तो निश्चय था कि यह वंश भी हिन्दुस्थान में एकच्छत्री साम्राज्य की स्थापना कर देता। पर दैव विपरीत था जिससे पांसा उलटा ही पड़ गया और आज़ाद होने के बदले भारतवर्ष गुलामी के ऐसे गहरे कीचड़ में फंसा कि आज तक वह उसमें से न निकल सका।

अस्तु, इस स्थान पर हम उसी प्रसिद्ध चौहान वंश का संक्षिप्त इतिहास देना आवश्यक समझते हैं।

चौहान वंश का इतिहास

चौहान वंश की उत्पत्ति "चाहमान" नामक एक व्यक्ति से हुई है। इस वंश की उत्पत्ति के इतिहास से इस पुस्तक का कोई सम्बन्ध नहीं। अतः इस विषय को बढ़ा कर लिखना हम व्यर्थ

समझते हैं। इस वंश में सब से पहला प्रसिद्ध व्यक्ति "अजय-राज" हुआ। अजयराज के पूर्व इस वंश की राजधानी "सांभर" में थी पर चूंकि इस समय मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और सांभर में कोई ऐसा किला या पहाड़ न था जो ऐसे आक्रमणों के समय में राजधानी की रक्षा कर सके। इसलिए अजयराज को अपनी राजधानी ऐसे स्थान पर ले जाने की आव-श्यकता हुई जो चारों ओर से रक्षित हो और जिस पर एकाएक बाहरी शत्रु आक्रमण न कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए उसने शीघ्र ही एक पहाड़ों से रक्षित स्थान पर "अजयमेरु" नामक नगर बसा कर वहां पर किला बनवाया। यह अजयमेरु आज कल अजमेर के नाम से प्रसिद्ध है।

अजयदेव के तांबे और चान्दी के सिक्के अब भी अजमेर के आस पास में मिला करते हैं। इन सिक्कों की एक बाजू पर "श्रीअजयदेव" लिखा रहता है। और दूसरी ओर लक्ष्मी की एक भद्दी तस्वीर बनी हुई रहती है। सन् १२२८ के एक शिला-लेख से पता चलता है कि उस समय तक ये सिक्के प्रचार में चलते थे।

अजयदेव के पश्चात् उनके पुत्र अर्णोराज जिन्हें आनाजी

आनाजी

कहते हैं, राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इनके तीन रानि-यां थीं। इनमें से दो प्रधान थीं। पहली मारवाड़ की राजकुमारी जिसका नाम "सुधवा" था और दूसरी गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह की पुत्री जिसका नाम "कांचनदेवी" था। इनमें से

सुधवा से उत्पन्न तीन पुत्र थे। (१) जगदेव (२) दूसरे के नाम का पता अभीतक नहीं चला और (३) विग्रहराज जिन्हें वीसलदेव भी कहते हैं। गुजरात की कांचनदेवी से एक पुत्र हुआ था जिसका नाम सोमेश्वर था। यही सोमेश्वर प्रसिद्ध सम्राट् "पृथ्वीराज" के पिता थे।

आनाजी ने अजमेर में अपने नाम से एक तालाब बनाया था। यह आजकल आनासागर के नाम से प्रसिद्ध है।

संवत् १२०७ और १२१० के बीच में किसी दिन राज्य-प्राप्ति की उत्कट लालसा से प्रेरित होकर आनाजी के पुत्र "जगदेव" ने अपने पिता की हत्या कर डाली।

विक्रम संवत् १२०७ के लिखे हुए दो शिलालेख शेखावाटी प्रान्त के जीणमाता के मन्दिर पर खुदे हुए मिले हैं। उनसे तथा चित्तौड़ के किले और पालडी के शिलालेखों से पाया जाता है कि गुजरात के राजा कुमारपाल की अर्णोराज (आनाजी) के साथ विक्रम संवत् १२०७ के आश्विन और कार्तिक मास में लड़ाई हुई। इसके सिवाय उन से यह भी मालूम होता है कि उसके पुत्र विसलदेव ने राज्य पाने के पश्चात् संवत् १२१० की माघ शुक्ल ५ को "हरकेलि" नामक नाटक समाप्त किया। इससे पता चलता है कि या तो पिता को मार कर भी जगदेव अपनी राज्यलालसा पूरी न कर सका और यदि उसने राज्यभोग किया भी तो बहुत थोड़े समय तक क्योंकि १२१० में तो विसलदेव राजा हो ही चुका था।

वीसलदेव

सन् १२१० के कुछ पूर्व वीसलदेव राजगद्दी पर बैठा। यह बड़ा ही प्रतापी और विद्वान् नरेश था। इसके समय के चार शिलालेख अभी तक प्राप्त हुए हैं। इनके भाई सोमेश्वर के समय का शिलालेख बिजोलिया (१२२६ का) में भी मिला है। उस शिलालेख में लिखा है कि वीसलदेव ने नाडोल और पाली को बर्बाद किया, जालोर को जला दिया और दिल्ली को विजय करके बड़ा नाम पैदा किया। देहली में फिरोजशाह की लाट पर खुदे हुए वीसलदेव के तीसरे लेख में लिखा है कि उसने तीर्थ यात्रा के बहाने हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक के प्रदेश को विजय किया और आर्यावर्त से म्लेच्छों को निकाल कर उसे पुनः आर्य्य देश कहने योग्य बनाया।

वीसलदेव की राज सभा में सोमेश्वर नामक एक कवि थे, जिन्होंने "ललित विग्रहराज" नामक नाटक की रचना की है। इस नाटक से मालूम होता है कि वीसलदेव के पास १००० हाथी, १०००० घोड़े तथा १००००० पैदल सेना थी। वीसलदेव विद्यानुरागी और संस्कृत का अच्छा कवि था। इसने प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोज के अनुकरण पर अजमेर में एक सुंदर पाठशाला बनवाई जो कि आज कल ढाई दिन के झोंपड़े के नाम

से मशहूर है। संवत् १२१० में उसने "हरकोलि" नामक नाटक की रचना की। इन दोनों नाटकों को बड़ी २ शिलाओं पर खुदवा कर उसने अपनी पाठशाला में रखवाया जिनमें से ढाई दिन के झोंपड़े को खोदते हुए पांच शिलाओं के टुकड़े एक मकान की नींव में से मिले हैं जो अब राजपूताना के अजायबघर की शोभा को बढ़ा रहे हैं। वीसलदेव ने चौहानों के इतिहास का एक पूरा काव्य कई शिलाओं पर खुदवा कर इसी स्थान पर लगवाया था जिसकी केवल पहली शिला अभी उपलब्ध हुई है। इसमें कई देवी देवताओं की स्तुति के पश्चात् सूर्य्य की स्तुति है और लिखा है कि सूर्य्य के वंश में इक्ष्वाकु, राम, आदि प्रतापी राजा हुए। उसी वंश में चाहमान (चौहान) हुआ। स्तुति में ही जब इतनी बड़ी शिला भर दी है तो पूरा इतिहास न मालूम कितना बड़ा होगा पर खेद है कि अभीतक केवल एक ही शिला मिली है।

वीसलदेव ने अपने नाम से एक नगर भी बसाया था जो आजकल "बीसलपुर" (जयपुर राज्य में) नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अजमेर के पास वाला "विसलसर" नामक तलाव भी इन्हीं का बनाया हुआ है।

सम्भवतः संवत् १२२०–२४ के बीच किसी वर्ष में विसलदेव की मृत्यु हुई। मृत्यु समय इसने अपने उत्तराधिकारियों को सम्बोधन कर कहा—"हिमालय से विन्ध्याचल तक का प्रदेश तो मैंने अपने अधीन कर लिया है, शेष प्रान्तों को अधीन करने का बराबर प्रयत्न करते रहना।"

वीसलदेव के पश्चात् उनके बालक पुत्र "अमरगांगेय" सिंहासनारूढ़ हुए। इन्होंने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। पितृघाती जगदेव के पुत्र द्वितीय पृथ्वीराज ने इनसे राज्य छीन लिया। द्वितीय पृथ्वीराज बड़ा ही दानी था। इसने बहुत सा सुवर्ण और कई नगर दान में दिये। इसने बिजोलिया के पास वाले पार्श्वनाथ के मंदिर को "मोराकुरी" नामक ग्राम दान में दिया। सन् १२२६ में इसका देहान्त हुआ और इसकी जगह पर "सोमेश्वर" सिंहासनारूढ़ हुआ।

सोमेश्वर

सोमेश्वर ने चेदि देश की राजकन्या "कर्पूरदेवी" से विवाह किया। इस रानी से "पृथ्वीराज" और "हरिराज" नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। सन् १२२६ में सोमेश्वर अपने नाबालिग पुत्र पृथ्वीराज के हाथ में राज्य भार दे परलोकगामी हुआ।

सम्राट् पृथ्वीराज

पृथ्वीराज की वाल्यावस्था के कारण राज्य का प्रवन्ध उसकी माता "कर्पूरदेवी" अपने मंत्री कादम्ववास (कैमास) की सहायता से करती रही। जान पड़ता है कि सं० १२३९ में पृथ्वीराज ने राज्य का भार अपने हाथ में ले लिया।

पृथ्वीराज का देहली गोद जाना

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि, देहली के तोमर वंशी राजा अनङ्गपाल ने अपनी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ। अंत में अनङ्ग-पाल देहली का राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर बद्रिका-श्रम में तप करने को चला गया। रासो में अनन्द विक्रम संवत् ११२२ और प्रचलित विक्रम संवत् १२१२-१३ में पृथ्वी-राज का देहली गोद जाना लिखा है। उस समय पृथ्वीराज की अवस्था केवल सात वर्ष की थी। पर कई प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि उस समय तक पृथ्वीराज का जन्म भी न हुआ था। न तो सोमेश्वर के समय में देहली का राजा अनङ्ग-पाल ही था, और न उसकी कन्या का विवाह सोमेश्वर के साथ

ही हुआ। इसलिए पृथ्वीराजरासो का यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त देहली तो चतुर्थ बीसलदेव के समय से ही चौहानों के कब्जे में आ गई थी। संवत् १२२६ में खुदवाए हुए बिजोलिया के शिलालेख में लिखा है—"दिल्ली (देहली) लेने से थके हुए और आशिका (हांसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को उसने (विसलदेव) प्रतोली २ (द्वार) और वलभी २ (झरोखे २) में विश्रान्ति दी।" अर्थात् देहली और हांसी को जीत कर उसने अपने यश को फैलाया। देहली के शिवालिक स्तम्भवाले लेख में हिमालय से विन्ध्य तक के देश को विजय करना लिखा है। हांसी से मिले हुए पृथ्वीराज दूसरे के वि० सं० १२२४ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय वहां का प्रबन्धकर्ता बीसलदेव का मामा गुहिलवंशी किल्हण था। सम्भव है कि इसी प्रकार उस समय दिल्ली राज्य भी बीसलदेव के किसी सामंत अथवा किले-दार के हाथ में होगा। तबकात-ई-नासिरी में शहाबुद्दीन गोरी के साथ की पहली लड़ाई में देहली के राजा गोविन्दराय का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी के भाले से सुलतान का घायल होकर लौटना लिखा है तथा दूसरे युद्ध में लिखा है कि पृथ्वीराज पराजित हुए थे उसी गोविन्दराय का मारा जाना लिखा है। इससे निश्चित है कि पृथ्वीराज के समय में देहली अजमेर के एक सामंत के अधिकार में थी। ताजुल-मआसिर में भी ऐसा ही लिखा है, पर उसमें गोविन्दराय के स्थान खाण्डे-राव लिखा है जो फारसी अक्षरों के दोष से ही अशुद्ध लिखा हुआ है।

पृथ्वीराज की माता का नाम कमला नहीं प्रत्युत कर्पूरदेवी था। और वह देहली के अनङ्गपाल की नहीं बल्कि चेदि देश के राजा अचलराज की पुत्री थी। नयचन्द्र सूरि ने भी अपने हमीर महाकाव्य में पृथ्वीराज की माता का नाम "कर्पूरदेवी" ही लिखा है।

जब वीसलदेव के समय से ही देहली का राज्य अजमेर के चौहानों के अधीन हो गया था और पृथ्वीराज अनङ्गपाल का दौहित्र ही न था तो यह कल्पना कि पृथ्वीराज अपने नाना के यहां गोद गया था स्वयं ही निर्मूल हो जाती है।

शाहबुद्दीन गोरी

जिस समय सम्राट् पृथ्वीराज अजमेर में रहकर न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का शासन कर रहे थे ठीक उसी समय शाहबुद्दीन गौरी नामक मुसलमान सुलतान भारतवर्ष पर मुसलमानी सल्तनत कायम करने की कोशिश कर रहा था। उसके अत्याचारों से तङ्ग आकर पश्चिम के कई राजा गोविन्दराज के पुत्र "चन्द्र" को अग्रगण्य कर पृथ्वीराज के पास आये। इन लोगों के उदास चेहरों को देख कर पृथ्वीराज कुछ शङ्कित हुए और उन्होंने उनसे आने का कारण पूछा। उत्तर में चन्द्र ने कहा—"महाराज! शाहबुद्दीन गौरी नामक एक मुसलमान बादशाह क्षत्रियों के राज्यों को नष्ट करने के लिए धूमकेतु के सदृश उदय हुआ है। उसने कई नगर लूट कर जला दिये हैं। जो कोई उसके विरुद्ध शस्त्र धारण करता है वह तत्काल ही यमराज के घर का मेहमान होता है।

यह सुनते ही पृथ्वीराज बड़े क्रोधित हुए उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि शाहबुद्दीन गोरी को गिरफ्तार कर यदि आपके पैरों में न झुकाऊं तो मैं चौहान नहीं ।

यह प्रतिज्ञा कर उसने अपनी सज्जित सेना के साथ मुल-तान की ओर प्रस्थान किया । तराइन के पास भयङ्कर युद्ध हुआ जिसमें पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को बड़ी भारी पराजय दी और उसे गिरफ्तार कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की । तत्पश्चात राजाओं को अपने २ राज्यों पर नियुक्त कर वह विजयी और अपनी राजधानी को लौट आया । ऐसा कहा जाता है कि यहां आकर उसने शाहबुद्दीन से १२ हाथी और १०० घोड़े दण्ड स्व-रूप लेकर उसे छोड़ दिया !

वास्तव में देखा जाय तो इस समय मुहम्मद गोरी को इस प्रकार छोड़ देना ही पृथ्वीराज के और भारत के लिए अभिशा-प हो गया ! जिस तिथि को मुहम्मद गोरी छोड़ा गया उसी तिथि से भारत के वास्तविक पतन का इतिहास प्रारम्भ होता है ! कुछ लोग भारतीय उदारता का हवाला देते हुए इस घटना को पृथ्वीराज के जीवन की प्रशंसनीय घटना बतलाते हैं । पर राज-नीति के क्षेत्र में इस उदारता को भयङ्कर भूलों में [illegible] नहीं कहा जा सकता । यह सत्य है कि शत्रु के प्रति [illegible] व्यवहार करना भी भारतीय नीति का एक अङ्ग है । पर उदारता वहीं तक प्रशंसनीय हो सकती है, जहां तक [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] इस प्रकार [illegible] [illegible] होता है और यह भूलों [illegible] [illegible]

को गड्ढे में डालनेवाली होती है। उदारता करते समय कर्त्ता को यह सोच लेना चाहिए कि उदारता को पाने वाला व्यक्ति पात्र है या नहीं, पर पृथ्वीराज ने इन बातों को न सोचा। उनकी भयङ्कर भूल का जो भयङ्कर परिणाम हुआ, उसे लिखते हुए आज भी कलेजा कांप उठता है। उसी उदारता का भयङ्कर परिणाम ७०० वर्षों से भारतवर्ष भुगत रहा है। अस्तु !

फ़ारसी तवारीखों में इस युद्ध का जो वर्णन किया गया है उसे भी नीचे दे देना हम उचित समझते हैं—

तबकात–ई–नासिरी में लिखा है—"सुल्तान शाहबुद्दीन ने सरहिन्द कर लिया। उसका भार वे जियाउद्दीन काजी को सौंप कर गज़नी को लौट गये। पर रायकोला पिथौरा (पृथ्वीराज) की चढ़ाई का हाल सुनकर वे वापस आए, तराइन के पास लड़ाई हुई। हिन्द के सब राजा रायकोला के साथ थे। लड़ते समय सुल्तानने दिल्ली के राजा गोविन्दराय पर हमला किया। गोविन्दराय उस वक्त हाथी पर सवार था। सुल्तान ने उसके मुंह पर भाला मारा जिससे उसके दो दांत टूट गये। राजा ने क्रोधित होकर सुल्तान पर पीछा वार किया, जिससे सुल्तान का हाथ ज़खमी हो गया। इस घाव की पीड़ा इतनी कठिन हुई कि सुलतान को घोड़े पर ठहरना मुश्किल हो गया। यह देख कर मुसलमानों की सेना भागने लगी। सुलतान घोड़े पर से गिरने ही को थे कि एक बहादुर खिलजी जवान बादशाह के घोड़े पर चढ़ गया, और सुलतान को भगा ले गया, यह देखकर राजपूतों ने उसका पीछा किया और भटिण्डे को घेर कर १३ महीने के बाद उसे फतह किया।"

तारीख-फरिश्ते में लिखा है कि सुलतान मुहम्मद गोरी ने हिजरी सन् ५८७ में फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की। और अजमेर की तरफ जाते हुए "भटिण्डे" को ले लिया। एवं एक हजार से अधिक सवार और इतने ही पैदलों के साथ मलिक जियाउद्दीन तुजुकी को वहां पर छोड़ कर वापिस लौट गया। लौटते समय सुलतान ने सुना कि अजमेर का राजा पिथौरा और उसका भाई चामुंडराय हिन्दुस्तान के कई राजाओं के साथ दो लाख सवार और ३०००० हाथियों को लेकर सेना सहित भटिण्डा को आ रहा है। यह सुनकर वह भटिण्डे से आगे बढ़कर सरस्वती के तट पर तराइन गांव के पास पहुंचा जो थानेश्वर से १४ और दिल्ली से ८० मील दूरी पर है। इसी जगह पर लड़ाई हुई। और पहले ही हमले में सुलतान की फौज भाग गई। पर वह थोड़े से आदमियों के साथ लड़ता रहा। चामुंडराय ने सुलतान पर अपना हाथी पेला, पर सुलतान ने चामुंडराय के मुंह पर एक भाला मारा जिससे उसके दो दांत गिर गये। इतने में दिल्ली के राजा ने सुलतान के हाथ में [illegible] जिससे उसका हाथ जखमी हुआ। [illegible] गिरने ही वाला था कि एक [illegible] ने उसके पीछे [illegible] उसे पकड़ लिया और घोड़े को भगा कर ले गया। [illegible] मील तक राजपूतों ने उसका पीछा किया और [illegible] भटिण्डे पर घेरा डाला [illegible] महीने में [illegible] अधिकार कर लिया।

इस विजय से पृथ्वीराज की कीर्ति हिन्दुस्तान में [illegible] इस विजय की [illegible]

नामक काव्य की रचना की। यह महाकाव्य चौहानों के इतिहास का एक प्रमाणिक ग्रन्थ है।

संयोगिता हरण की कल्पना

पृथ्वीराज रासो में लिखा है कि कन्नौज के राजा विजयपाल ने देहली के तंवरराजा अनंगपाल पर चढ़ाई की। परंतु सोमेश्वर चौहान और अनङ्गपाल की सेना के सम्मुख वह पराजित हुआ। इसके पश्चात् विजयपाल ने अनंगपाल की दूसरी कन्या "सुन्दरी" से विवाह किया। इस कन्या से उनके जयचंद नामक पुत्र हुआ। विजयपाल ने दिग्विजय करते हुए पूर्वी समुद्र के तट पर कटक के सोमवंशी राजा मुकुंददेव पर चढ़ाई की। उसने उसका बड़ा स्वागत किया और बहुत से धन के साथ अपनी पुत्री भी उसके भेंट कर दी। इसका विवाह विजयपाल ने अपने पुत्र जयचन्द के साथ कर दिया। इससे जयचन्द को संयोगिता नामक एक कन्या हुई। विजयपाल वहाँ से आगे बढ़ कर सेतुबन्ध तक पहुँचा। वहाँ से लौटते हुए उसने तेलङ्ग, कर्णाट, मिथिला, पुङ्गल, आसेर, गुर्जर, गुंड, मगध, और कलिंग आदि देशों को जीता। इसके पश्चात् उसने पट्टनपुर (पाटण अनहिल वाड़ा) के राजा भोलाभीम पर चढ़ाई की। भीम ने अपने पुत्र के साथ नज़राना भेजकर उसे लौटा दिया। इस प्रकार उसने सब राजाओं को जीत लिया। पर अजमेर के चौहानों ने उसकी अधीनता स्वीकार न की। विजयपाल के पीछे उसका पुत्र जयचन्द कन्नौज का राजा हुआ। उसने राजसूय यज्ञ करना निश्चय कर सब राजाओं को उसने निमंत्रण

किया। पृथ्वीराज को भी उसने निमंत्रण भेजा, परंतु उसने उसे स्वीकार न किया। इतना ही नहीं, किन्तु जयचन्द की इस धृष्टता से क्रुद्ध होकर उसने उसके भाई बालुकराय पर चढ़ाई कर दी। उसने बालुकराय के प्रान्त को उजाड़ कर उसके मुख्य नगर खोखन्दपुर को लूटा और युद्ध में बालुकराय को मार डाला। उसकी स्त्री रोती हुई कन्नौज में जयचन्द के पास पहुँची। और उसने चौहान के द्वारा अपना सर्वनाश होने का हाल कहा। जयचन्द ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने का विचार किया। पर उसके मंत्रियों ने उसे सलाह दी कि बिना मेवाड़ के रावल समरसिंह को अपने पक्ष में मिलाए पृथ्वीराज को जीतना कठिन है। इस पर उसने रावल समरसिंह को पक्ष में बुलाने के लिए पत्र लिखा और बहुत कुछ लालच भी बतलाया, पर उन्होंने उसका स्वीकार न किया। इस पर जयचन्द ने पृथ्वीराज और समरसिंह दोनों पर चढ़ाई करने का निश्चय किया और पृथ्वीराज से उसने नाना अनङ्गपाल का देहली का आधा राज्य भी लेना चाहा। उसने अपनी सेना के दो विभाग कर एक को देहली पर और दूसरी को चित्तौड़ पर भेजा। दोनों स्थानों से उसकी सेना हार खाकर लौटी। इससे क्रुद्ध होकर जयचन्द ने राजसूय यज्ञ में पृथ्वीराज की एक सोने की मूर्ति बनाकर उसे द्वारपाल के स्थान पर खड़ी करवा दी। राजसूय यज्ञ के साथ ही जयचन्द की पुत्री संयोगिता का स्वयंवर भी होने वाला था। वह राजकुमारी पृथ्वीराज की वीरता का हाल सुन चुकी थी। वह बहुत सुन्दर थी, और मन ही मन उसने पृथ्वीराज को अपना पति चुन रक्खा था। स्वयंवर के समय जब राजकुमारी [illegible] [illegible] हुई,

और तत्काल ही उसने पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी। इस घटना से जयचन्द को बड़ा क्रोध हुआ। और उसने अपनी लड़की को गंगातट के एक महल में कैद कर दिया। इधर पृथ्वीराज ने भी ये घटनाएं सुनीं, और सुनते ही उन्होंने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। भीषण युद्ध के पश्चात् पृथ्वीराज संयोगिता को ले आये। जयचन्द इससे बहुत ही लज्जित हुआ और दो दिन के बाद ही उसने अपने पुरोहित श्रीकण्ठ को भेजकर संयोगिता का विधिपूर्वक विवाह करवा दिया।"

रासे में दिये हुए उपरोक्त कथन में से दो बातों को छोड़ कर विजयपाल के पश्चात् जयचन्द का गद्दी पर बैठना तथा जयचन्द और पृथ्वीराज का १२४१-४२ में मौजूद होना, सारी की सारी बातें कल्पित हैं। सोमेश्वर के समय में दिल्ली पर अनङ्गपाल का राज्य ही न था, अतः अनङ्गपाल की पुत्री सुन्दरी का विजयपाल के साथ विवाह होना ही कपोल कल्पित है। उसके पश्चात् विजयपाल की दिग्विजय की कथा भी निर्मूल है। विजयपाल के समय में कटक पर सोमवंशी मुकुन्ददेव का नहीं प्रत्युत गंगवंशियों का राज्य था। इसी प्रकार उस समय में पट्टनपुर का राजा भोलाभीम नहीं प्रत्युत कुमारपाल था। क्योंकि कन्नौज के राजा विजयपाल ने वि० सं० १२११ के अनन्तर ही राज्य पाया। तथा १२२६ में उनका देहान्त हुआ। उधर ११९९ से १२३० तक गुजरात में कुमारपाल का राज्य था। भोलाभीम तो १२३५ में राजगद्दी पर बैठा। इसी प्रकार जयचन्द के समय में मेवाड़ के राणा श्रीरावल समरसींह नहीं थे प्रत्युत सांवतसिंह और उनके छोटे भाई कुमारसिंह थे। समरसिंह तो कुमारसिंह की पांचवी

सूरत में हुए हैं, जो वि० सं० १३५८ तक जीवित थे। इसी प्रकार जयचन्द के राजसूय यज्ञ करने और संयोगिता के स्वयंवर की कथा भी निरी कल्पित ही है। जयचन्द बड़ा ही दानी राजा था, उसके कई दानपत्र अब तक मिल चुके हैं। जिनसे पाया जाता है कि वह प्रसंग २ पर बड़े २ भूमिदान किया करता था। यदि उसने राजसूय यज्ञ किया होता, तो यह निश्चय है कि, ऐसे महत्वपूर्ण प्रसंग पर कितने ही गांव दान करता। पर उसके सम्बन्ध का अब तक न तो कोई दान-पत्र मिला है और न किसी शिलालेख या प्राचीन पुस्तक में इस यज्ञ का कहीं उल्लेख ही है। अब जयचन्द और पृथ्वीराज के बीच की कन्नौज की लड़ाई, और संयोगिता हरण को लीजिए। ये कथाएं भी बिलकुल मन गढ़न्त हैं, इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ग्वालियर के तोमरवंशी राजा वीरम के प्रसिद्ध राजकवि नयचन्द्रसूरि ने वि० सं० १४४० के लगभग "हम्मीर महाकाव्य" की रचना की। इस काव्य में पृथ्वीराज के जीवन का विस्तृत वृत्तान्त दिया है। ऐसे ही उक्त कवि ने "रम्भामंजरी" नाम नाटिका की भी रचना की है जिसका प्रधान-नायक उन्होंने जयचन्द को माना है। परन्तु इन दोनों काव्यों में कहीं भी संयोगिता हरण, पृथ्वीराज और जयचन्द के बीच की लड़ाई का उल्लेख नहीं है। इससे यही पाया जाता है कि, वि० सं० १४४० तक [illegible] [illegible] गई थीं।

[illegible]

[illegible]

दिया। दो वर्ष के भीतर वह अपनी सेना को सज्जित कर पुनः भारतवर्ष पर चढ़ आया। इस युद्ध का वृत्तान्त हमीर महाकाव्य में इस प्रकार लिखा है:—

"शाहबुद्दीन गोरी अपनी पराजय का बदला लेने को सात बार पृथ्वीराज पर चढ़ आया और सातों बार उसने शिकस्त पाई; तब उसने छल से पृथ्वीराज को जीतने का विचार किया और "घटेक" देश के राजा की सहायता पाकर उसने अचानक दिल्ली पर हमला कर उस पर अधिकार कर लिया। यह खबर सुन कर पृथ्वीराज ने कहा कि मैंने कई बार इसको जीता तिस पर भी यह बालक की सी चाल चलता है। इस प्रकार अभिमान कर वह थोड़ी सी सेना के साथ उसकी तरफ चला। सुलतान को पृथ्वीराज का अच्छी तरह अनुभव हो चुका था और इस कारण वह पृथ्वीराज को देख कर घबरा गया। और सहज में विजय प्राप्त करने की सम्भावना न देखकर, रात के समय उसने अपने विश्वासपात्र पुरुषों के द्वारा बहुत सा द्रव्य पृथ्वीराज के अश्वपाल और बाजा बजाने वालों के पास रिश्वत स्वरूप भिजवा दिया जिससे वे लोग भीतर ही भीतर उसकी ओर मिल गये। प्रातः काल होते ही सुलतान की फौज ने चारों ओर से राजपूत सेना को घेर लिया। पृथ्वीराज की सेना ने भी शस्त्र धारण किया, पर रिश्वतखोर अश्वपालने पृथ्वीराज को नाट्यारम्भ घोड़े पर चढ़ा दिया, वह घोड़ा रणवाद्य सुनते ही नाचने लगा जिससे पृथ्वीराज का लक्ष्य उस ओर को चला गया। इधर मौका पाते ही शत्रुओं ने उसके घोड़े को घेर लिया। यह हाल देखकर वह घोड़े पर से उतर गया, और हाथ में

खड्ग लेकर बड़ी देर तक सिंहनाद करता हुआ लड़ता रहा। इतने में किसी यवन ने पीछे से उसके गले में धनुष डाल कर उसे गिरा दिया और दूसरे लोगों ने फुर्ती से उसे बांध लिया। इस प्रकार दैवयोग से पृथ्वीराज सुलतान के हाथ कैद हो गया। क़ैद होते ही उसने खाना पीना छोड़ दिया। इसी अवसर में वीर उदयराज भी जिसको पृथ्वीराज ने पहले से सुलतान के मुकाबले पर भेज रक्खा था, आ पहुँचा। उसको देख कर के मारे सुल-तान दिल्ली शहर के भीतर घुस गया। उदयराज को पृथ्वीराज के बन्धन का बड़ा दुख हुआ, और अपने स्वामी को कैद में छोड़ कर चल देना उसने उचित न समझा। वह एक मास तक नगर को घेर कर लड़ता रहा। एक दिन किसी ने बादशाह से निवेदन किया कि, पृथ्वीराज ने आपको अनेक बार युद्ध में पकड़ कर छोड़ दिया है तो आपको भी चाहिए कि, एहसान उसे छोड़ देवें। इस बात को सुनते ही सुलतान ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुम्हारे जैसे मंत्री मिल जांय तो राज्य को नष्ट कर देवें. पश्चात् बादशाह उसने पृथ्वीराज को किले में भेज दिया जहाँ उसका देहान्त हुआ। यह खबर सुनते ही उदयराज गौड़ ने भी लड़ कर अपने प्राण दे दिये।"

जामि-उल-हिकायत में लिखा है कि जब सुलतान गोरी दूसरी बार पृथ्वीराज से लड़ने को आया, तब उसको [illegible] मालूम हुआ कि [illegible] [illegible] है, और [illegible] हैं। [illegible] [illegible]

सुलतान ने आज्ञा दी कि प्रत्येक आदमी अपने तम्बू के आगे बहुत सी लकड़ियां एकत्र कर रक्खें; फिर रात के वक्त सेना के एक दल को यह हुकम दिया कि, रात भर वे अपने डेरों में आग जलती रक्खें, ताकि दुश्मन को खयाल हो कि सुलतान का डेरा वहीं है। यह हुक्म देकर वह अपनी बाकी सेना सहित दूसरी तरफ चला गया। हिंदुओं ने आग जलती हुई देख विश्वास कर लिया कि सुलतान वहीं पर ठहरा हुआ है। सुलतान रात भर चलकर पृथ्वीराज की चन्दावल (सेना का पिछला भाग) के पास आ पहुँचा, और प्रातःकाल होते ही हमला कर बहुत से आदमियों को मार डाला। जब चन्दावल वाले खास लश्कर की तरफ पीछे हटने लगे, तो पृथ्वीराज ने चन्दावल की तरफ फिरना चाहा, पर इससे उसकी सेना का सिलसिला बिगड़ गया। और हाथी काबू में न रहे। फिर आम तौर से लड़ाई हुई, जिसमें पृथ्वीराज हार कर सुलतान के हाथ कैद हो गया और सुलतान विजयी हो वापस दिल्ली गया।"

ताजुलम आसिरी में लिखा है—"हि० सं० ५८७ (ई० ११९१) में सुलतान शाहबुद्दीन ने हिंदुस्तान पर चढ़ाई की और लाहौर में आकर उसने अपने सरदार किवामुल्मुल्क रूहुद्दीन हमजा को अजमेर के राजा के पास भेज कर कहलाया कि, वह बिना लड़े सुलतान की अधीनता स्वीकार कर मुसलमान हो जावें। उसने अजमेर पहुँच कर अपने आने का आशय पृथ्वीराज को कह सुनाया। लेकिन पृथ्वीराज को अपनी भारी सेना और ऐश्वर्य के मारे दुनिया भर को विजय करने का हौंसला हो रहा था। इसलिये उसके कथन का उस पर कुछ भी असर न

हुआ । इस पर सुलतान अपनी सेना सहित अजमेर की तरफ़ चला जिसकी ख़बर मिलते ही अजमेर का राजा कोला (पृथ्वीराज) जिसकी बहादुरी का रौब दूर २ तक फैला हुआ था, असंख्य सेना के साथ सामना करने को चला, हाथियों पर चढ़े हुए काले चेहरे के हिंदू सफ़ेद शंख बजाने लगे । बहुत युद्ध के पश्चात् अन्त में मुसलमान फ़तहयाब हुए । एक लाख हिंदू मारे गये, और अजमेर का राजा सुलतान के हाथों कैद हुआ लेकिन उसकी जान बचाई गई । सुलतान ने अजमेर पहुँच कर वहां के मंदिरों को तुड़वाया और उनकी जगह मसजिदें बनवाई । अजमेर के राजा—को जो किसी तरह सजा से बच कर रिहाई पा गया था, मुसलमानों से दिली नफ़रत थी । जब उसके बारे में यह मालूम हुआ कि, वह कुछ साज़िश कर रहा है तो बादशाह ने उसे मार डालने की आज्ञा दी और उसका सिर तलवार से उड़ा दिया गया । अजमेर का राज्य राय पिथौरा के लड़के को सौंप सुलतान दिल्ली पर चढ़ गया । वहां के राजा ने मातहती स्वीकार कर खिराज देना कबूल किया । सुलतान गज़नी लौट गया लेकिन उसकी सेना दिल्ली की हद के भीतर इन्द्रपत (इन्द्रप्रस्थ) मौजे में रही ।

तब फतह-ई-नासिरी में लिखा है—"दूसरे वर्ष सुलतान [illegible] सेना तय्यार कर अपनी [illegible] का बदला लेने [illegible] चढ़ा. मुईनुद्दीन [illegible] [illegible] के [illegible]

हाथी पर से उतर कर घोड़े पर चढ़ कर भागा, पर सरस्वती के पास पकड़ा गया और कत्ल कर दिया गया। दिल्ली का गोविंद राय भी लड़ाई में मारा गया। सुलतान ने उसका सिर उन दो दांतों से पहचाना जो उसने तोड़े थे। अजमेर, सवालक की सब पहाड़ियें, हांसी, सरस्वती और दूसरे इलाके सुलतान के हाथ में आये। यह विजय इसवी सन् ११९२ में हुई।

पृथ्वीराज रासों में लिखा है कि—शाहबुदीन गोरी पृथ्वीराज को कैद कर गज़नी ले गया और उसकी आंखें फुड़वा डालीं। कुछ दिनों पश्चात् चन्दवरदाई ने वहां पहुँच कर सुलतान के सम्मुख पृथ्वीराज की धनुर्विद्या की बड़ी तारीफ़ कर उसका कौशल देखने के लिये सुलतान को उत्सुक किया। इस पर बादशाह के कथनानुसार चन्द के संकेत पर पृथ्वीराज ने बाण चलाया, जिससे शाहबुदीन मारा गया। उसके पश्चात् चंद और पृथ्वीराज दोनों ने आत्महत्या कर ली। यह सारा वृत्तान्त बिलकुल ग़लत है। क्योंकि न तो पृथ्वीराज गज़नी ले जाया गया और न सन् ११५८ में वह अपना गला काट कर मरा। यह बात उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है। इसी प्रकार पृथ्वीराज के हाथ से सुलतान का मारा जाना भी निर्मूल है क्योंकि पृथ्वीराज तो वि० सं० १२४९ में मारा गया, और सुलतान १४ मार्च सन् १२०६ अर्थात् वि० सं० १२६३ में गज़नी जाते हुए मार्ग में गक्खरों के हाथ से मारा गया।

पृथ्वीराज के समय के पांच शिलालेख मिले हैं। जिनमें से एक संवत् १२३६ के आषाढ़ बदी १२ का लोहारी (मेवाड़) गांव से, दो शिलालेख मदनपुर (बुंदेलखंड) से, एक बिसलपुरसे

और एक मेवाड़ के जहाजपुर जिले के अंवलदा नामक ग्राम में प्राप्त हुआ है।

दीप-निर्वाण

पृथ्वीराज के पतन के साथ ही साथ भारतवर्ष में हिंदू साम्राज्य का भी दीपनिर्वाण हो गया। दैव दुर्विपाक से संसार की शिरोमणी आर्य्य जाति सदा के लिए अन्य ही [illegible] जातियों के अधिकार में हो गई। स्वाधीनता का ताज हिन्दुओं के सर से उतर कर मुसलमानों के मस्तक पर शोभित हुआ। वे क्षत्रिय जो किसी समय अपने पराक्रम के सम्मुख देवताओं इन्द्र को भी तुच्छ समझते थे, और जिन के भय से [illegible] कांपती थी, और आज़ादी जिनके पैरों पर हमेशा मस्तक झुकाए खड़ी रहती थी, जिनका मस्तक सिवाय परमात्मा के किसी के आगे न झुकता था, परिस्थितियों के फेर में पड़ कर मुसलमान बादशाहों के दरबारों में सिर झुकाए हुए नज़र आने लगे। पाठक! हमने आगे इसके भयंकर कारणों पर कुछ विचार किया है।

यह है कि पृथ्वीराज के समान बहादुर सम्राट् के रहते हुए शाहबुद्दीन के समान मामूली आदमी हिंदुस्तान पर चढ़ कर विजय प्राप्त कर ले। शायद ही किसी दुर्भाग्य देश में जहां की मनुष्य संख्या तीस करोड़ हो—इस प्रकार की घटनाएँ संभव हो सकती हैं।

इन आश्चर्य्यजनक बातों का समाधान केवल यह कह देने से नहीं हो सकता कि तुर्क दल की सैनिक शक्ति यहाँ वालों से बढ़ कर थी। यह प्रश्न बहुत ही अधिक महत्त्व का है, प्रत्येक भारतवासी को ऐसे प्रश्नों पर विचार करने से बहुत लाभ हो सकता है।

इतिहास के पाठक भली प्रकार जानते हैं कि उन्हीं सत्यताओं को दिखलाने वाला अभिनय—जिसमें स्थान २ पर हिन्दुओं के चरित्र के इसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं और जिसमें हिन्दुओं के सामाजिक और जातीय जीवन की न्यूनताएं प्रगट होती हैं—गत छः शताब्दियों में कई बार वैसी ही भयङ्करता और वैसे ही परिणाम के साथ हुआ है।

पृथ्वीराज का पतन क्यों हुआ ? अन्तर्दृष्टि से देखने पर तो इस पतन के अनेक कारण दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे समाज में व्यक्ति वैमनस्य, क्षत्रियों की विलास प्रियता, वर्णाश्रम धर्म का पतन आदि। इन सब कारणों पर विचार करने के लिये एक अलग स्वतन्त्र पुस्तक की आवश्यकता है। इस स्थान पर इनमें से एक भी कारण पर विवेचन होना दुःसाध्य है। यहाँ पर हम केवल एक ऐसे मोटे कारण पर विचार करते हैं जो सहज ही में बालदृष्टि से प्रत्येक पाठक को दृष्टिगोचर होता है।

की आपत्ति देश पर न आने पावे। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य यही है। और इसी को राजनीति का एक अंश भी मानते हैं। जो क्षत्रिय इन नियमों से च्युत होता है, और देश देश के अन्दर हाथ कर आपत्तियों को निमंत्रित करता है वह क्षत्रिय धर्म से च्युत हो जाता है। इसी धर्म से क्षत्रियों का च्युत हो जाना भी देश की गुलामी का एक प्रधान कारण है।

ऐसे शत्रु पर—"जो कभी भी शत्रुता को न भूले, जिसकी घृणा की प्यास कभी न बुझे, जिसका एक मात्र उद्देश्य अपने विरोधियों का नाश करना हो, और जिसका धर्म-विधर्मियों को नष्ट करने की आज्ञा देता हो"—दया करना मूर्खता है। उसका भयङ्कर परिणाम आत्महत्या और जातीय हितों का नाश है। इस घातक त्रुटि ने, क्षत्रियों को और देश को राजनैतिक दृष्टि से अपने से बहुत निम्न श्रेणी के और कम सभ्यता वाले पश्चिमोत्तर निवासियों के अधीन बनाया। इस प्रकार के उदाहरणों से भारतवर्ष का सारा इतिहास भरा पड़ा है। यदि सन् ५२८ के लगभग नरसिंहगुप्त बालादित्य निर्दयी हूणराजा मिहिरगुल को उदारता पूर्वक छोड़ न देता और यदि ११९० में पृथ्वीराज अपने बन्दी शाहबुद्दीन गौरी को छोड़ न देता, यदि १४४० में महाराणा कुंभ माण्डू के मुहम्मद खिलजी को स्वतन्त्र न कर देते, यदि राजपूतों के साथ की तीस वर्ष की लड़ाइयों में महाराणा राजसिंह औरङ्गजेब को अछूता न जाने देते, और यदि औरङ्गजेब का बेटा शाहजादा मुअज्जम युवराज जयसिंह की दया से बच कर न जाने पाता तो आज भारत के इतिहास का

मार्ग कुछ और ही होता। कर्नल टॉड लिखते हैं कि,—"यदि मूर्खता पूर्ण उदारता और अविचार पूर्ण मनुष्यत्व के ये उदाहरण न मिलते तो मुसलमानों का सिंहासन पूर्ण तरह से उलट जाता।"

प्रधानतय: इसी मूर्खतापूर्ण उदारता से पृथ्वीराज का पतन हुआ, इसी अविचार पूर्ण मनुष्यत्व से हिन्दू साम्राज्य का दीप निर्वाण हुआ और इसी भयङ्कर चूक से भारतीय स्वाधीनता का अन्त हुआ!



महाराणा संग्रामसिंह

एक तरह से देखा जाय तो पृथ्वीराज के अन्त के साथ ही साथ हमारी पुस्तक का भी अन्त हो गया। क्योंकि पृथ्वीराज ही भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् थे। उन्हीं के साथ हिन्दू साम्राज्य का अन्त भी हो गया। पर सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत का इतिहास एक ऐसे व्यक्ति का नाम लेता है, जिसका आसन राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू सम्राटों के बराबर नहीं तो उनके अनकरीब जरूर है। यद्यपि पृथ्वीराज के बाद ही हिन्दू साम्राज्य का अभिनय खतम हो गया, पर उसमें एक दृश्य और अब शेष रह गया था, जो सोलहवीं शताब्दी के करीब अभिनीत हुआ। दैव यदि सीधा होता तो पृथ्वीराज की ही तरह महाराणा सांगा भी हिंन्दू साम्राज्य का पुनरुद्धार करने में अवश्य सफल होते। पर दैव दुर्वियोग से यह कामना अधूरी ही रही। इतने प्रतापी राजा का संक्षिप्त वर्णन देना हम इस पुस्तक में उचित समझते हैं।

उस समय की परिस्थिति

अजमेर के चौहानों, कन्नौज के गहरवालों और गुजरात के सोलंकियों का पतन होते ही मेवाड़ में गुहिलोत और मार-

किया हो, और जिसने भारत के मुकुट के लिये मध्य एशिया के उन आक्रमणकारियों से-जिनके भाई बन्धुओं ने दक्षिणी यूरोप को तहस नहस कर डाला था,—लड़ने को भिन्न २ राजपूत जातियों को सम्मिलित कर उनका नेतृत्त्व ग्रहण किया हो।

सांगा के समय में भारत का राजनैतिक गगन बहुत मेघाच्छन्न हो रहा था। कई आपत्तियां भारत के सिर पर मंडरा रही थीं। साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा था। एक ओर मुसलमान आक्रमणकारियों की धूम थी। दूसरी ओर राजपूत ही आपस में लड़ कर कट रहे थे। पारस्परिक द्वेष की अग्नि समाज में धांय २ करके जल रही थी। ऐसे कठिन समय में राणा संग्रामसिंह अवतीर्ण हुए। उन्होंने अपनी बुद्धिमानी और पराक्रम के जोर पर सारे साम्राज्य को फिर शृंखलाबद्ध कर दिया। और वह समय बहुत ही अनकरीब रह गया था जब वे दिल्ली में इब्राहिम लोदी के सिंहासन पर आरूढ़ होते। पर यह आशा-दैव दुर्वियोग से कहिए या हिन्दुओं के चरित्र की उन नाशकारी त्रुटियों के कारण कहिए-जो उनके सामाजिक और धार्मिक अन्ध विश्वासों के कारण उत्पन्न हुई थीं—शीघ्र ही निराशा में परिणित हो गई। विजय का प्याला जो होठों तक पहुँच चुका था, पृथ्वी पर गिरा दिया गया। हिन्दू साम्राज्य के स्थान पर हिन्दुओं की ही सहायता से मुगल साम्राज्य की नींव पडी। इसका विवरण पाठकों को आगे चल कर मालूम होगा।

संग्रामसिंह का जन्म और राज्यारोहण

महाराणा सांगा मेवाड़ के प्रसिद्ध राणा कुम्भा के पौत्र

राज्य नहीं कर सकता। उन्होंने अपने वीर कार्यों से भारत में इतना उच्चासन प्राप्त किया कि,—एर्सकिन के कथनानुसार—"उस समय समस्त भारतवासियों के हृदय में ये तरङ्गें उठने लगीं कि अब बहुत शीघ्र राज्य परिवर्तन होने वाला है। और वे प्रसन्नता से भारत में स्वदेशी राज्य की स्थापना का स्वागत करने को तैय्यार हो उठे।" और १६ मार्च सन् १५२७ ई० को यदि खानवा के मैदान में एक दुर्घटना न होती तो निश्चय था कि भारत का शाही मुकुट एक हिन्दू के मस्तक पर विराजमान होता और प्रभुत्व की पताका इन्द्रप्रस्थ को छोड़कर चित्तौड़ की बुर्जों पर लहराती।

महाराणा संग्रामसिंह को अपने जीवनकाल में कितने ही युद्ध करने पड़े। जिनमें से सुलतान इब्राहीम लोदी के साथ का युद्ध, सुलतान मुहम्मद खिलजी के साथ का युद्ध, गुजरात का आक्रमण और मुजफ्फरशाह का मेवाड़ पर आक्रमण विशेष मशहूर हैं। इन सब युद्धों में राणा संग्रामसिंह विजयी होते रहे। एक युद्ध में उनका बायां हाथ बिलकुल कट गया, और एक पैर लंगड़ा हो गया। एकाक्षी तो वे पहले ही हो गये थे, इस प्रकार इन युद्धों की वजह से महाराणा सांगा एक आँख व एक हाथ से बिल्कुल वंचित और एक पैर से अर्द्ध वंचित हो गये।

संग्रामसिंह का स्वेच्छासे शासनाधिकार छोड़ने की घोषणा करना

अंगहीन होने के कुछ दिनों पश्चात् हकीमों की चिकित्सा से महाराणा जब आराम हो गये तो इसके उपलक्ष्य में उत्सव

गौरव को घटाने की अपेक्षा वर्द्धित ही अधिक करेगी। यह कह कर सब लोगों ने महाराणा का हाथ पकड़ कर उन्हें रिक्त सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया।

घटना बहुत साधारण है। पर हिन्दुओं की राज्य कल्पना के वास्तविक उद्देश्यों को बतलाने वाली है। यह घटना बतलाती है कि, हिन्दुओं की राज्य कल्पना का आदर्श यह नहीं था कि, राजा प्रजा को अपनी इच्छानुकूल चलावे, और देश का शासन भी अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार करे। बल्कि वह आदर्श यह था कि राजा प्रजा का मुख्य कर्मचारी है। और उसका शारीरिक सुख, आकांक्षाएँ और व्यवसाय प्रजा की भलाई के नीचे हैं। उसका कर्तव्य शासन करना है न कि, अधिकार। यदि प्रजा की सेवा करने योग्य गुणों की उसमें न्यूनता हो तो उसे सिंहासन-त्याग के निमित्त हमेशा प्रस्तुत रहना चाहिए।

भारतवर्ष पर मुग़ल आक्रमण

जिस समय भारतवर्ष के अन्दर पठानों की ताकत लड़खड़ा कर गिरने वाली थी, उस समय काबुल में एक असाधारण योग्यता वाले पुरुष का आविर्भाव हुआ। इस व्यक्ति का नाम जाहिरुद्दीन मुहम्मद बाबर था। १५ फरवरी सन् १४८३ में फ़रगाना नामक छोटीसी रियासत के राजा उमरशेख के घर बाबर का जन्म हुआ। ११ बरस की उमर होने पर बाबर के बाप का देहान्त हो गया, और उसी दिन से वह अपने बाप की रियासत का मालिक हुआ। बाबर बचपन से ही नैपोलियन की तरह महत्त्वाकांक्षी था। और इन्हीं ऊँची महत्त्वाकांक्षाओं के

कारण उसे ऐसी भयङ्कर विपत्तियों का सामना करना पड़ा कि, कभी २ तो उसके पास खाने को चने तक नहीं रहे। पर उत्साही वावर के हृदय पर इन विपत्तियों का विशेष प्रभाव न पड़ा, इन विपत्तियों के आने से उसकी महत्वाकांक्षाओं को अधिकाधिक बल मिलता गया। यदि हो सका तो "भारत के मुगल सम्राट्"* नामक पुस्तक में हम इसके जीवन पर विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। यहां पर इसकी जीवनी का हमारे कथा भाग में जितना सम्बन्ध है, केवल उतना ही देने की कोशिश करेंगे।

मतलब यह कि, अनेक स्थानों पर भ्रमण करते करते अन्त में वावर को एक बुढ़िया के द्वारा हिंदुस्थान की शस्य श्यामला भूमि का पता लगा। भारत मेदिनी की इतनी प्रशंसा सुनते ही उसके मुंह में पानी भर गया। महत्वाकांक्षी तो वह था ही, भावी विपत्तियों की रंच मात्र भी परवाह न कर वह १२००० सैनिकों को साथ लेकर भारत विजय के निमित्त चल पड़ा। रास्ते में और भी बहुत से लोग आ आ कर उसकी फौज में मिलने लगे। सबसे पहले पानीपत के मैदान में दिल्ली के सुलतान इब्राहिम लोदी से उसका मुकाबिला हुआ। यहां आते आते बाबर की सेना ७०००० के लगभग हो गई थी। २९ अप्रैल १५२६ के दिन यह इतिहास प्रसिद्ध संग्राम युद्ध हुआ। जिसमें इब्राहिम लोदी की फौज पराजित हुई, और विजयमाला बाबर के गले में पड़ी। इसके बाद ही [illegible]

दिल्ली का शाही ताज बाबर के मस्तक पर मंडित हुआ। और उसी दिन से भारत हमेशा के लिए सूत्र रूप से गुलाम हो गया।

इब्राहीम लोदी से विजय पाने पर भी बाबर निश्चिन्त न हुआ। वह भली प्रकार जानता था कि, हिंदुस्थान में उसका प्रधान शत्रु इब्राहीम लोदी नहीं है प्रत्युत राणा संग्रामसिंह है। और इसलिए वह महाराणा सांगा पर विजय प्राप्त करने के साधन इकट्ठे करने लगा।

राणा सांगा और बाबर

इस स्थान पर प्रसंगवशात् हम राणा सांगा और बाबर के जीवन पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालना उचित समझते हैं। क्योंकि हमारे खयाल से इन दोनों महापुरुषों के जीवन में बहुत कुछ साम्य है।

राणा सांगा और बाबर ये दोनों ही भारत में अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। जिस प्रकार राणा सांगा एक साधारण राजपूत न थे, उसी प्रकार बाबर भी साधारण व्यक्ति न था। दोनों एक ही ढङ्ग के और एक ही अवस्था के थे। राणा सांगा का जन्म १४८२ में और बाबर का १४८३ में हुआ था। दोनों वीर थे और दोनों ने मुसीबत के मदरसों में तालीम पाई थी। बाबर का पूर्व जीवन दुःख, निराशा और पराजय में व्यतीत हुआ था फिर भी उसमें अदम्य उत्साह, भारी महत्वाकांक्षा कर्म-शीलता और निजी वीरता का काफ़ी समावेश था। विपरीत परिस्थितियों के धक्के खा २ कर वह इतना मजबूत हो गया था कि, कठिन से कठिन विपत्ति के समय में भी उसका धैर्य्य विचलित न

होता था। उसका जीवन उत्तर की जंगली जातियों और तुर्किस्तान तथा ट्रान्स आक्सियाना की क्रूर, उपद्रवी और विश्वासघाती जातियों में व्यतीत हुआ था। उसके बलवान शरीर, अदम्य साहस और बेशकीमती तजुर्बे ने ही मनुष्यता और सभ्यता में उन्नत राजपूत जाति का मुकाबिला करने में सहायता की। बाबर का आचरण शुद्ध था, वह एक सच्चा मुसलमान था, हमेशा हँस मुख और प्रसन्न रहा करता था। राजनैतिक मामलों को छोड़ कर दूसरी बातों में वह उदार भी था। व्यक्तिगत योग्यता और नेतृत्व की दृष्टि से वह उन तमाम सर्दारों और नेताओं से, जो उसके पूर्व भारत में आ चुके थे अधिक प्रतिभावान और शक्तिशाली था। साहस, दृढ़ता और शारीरिक पराक्रम में वह महाराणा सांगा के समान ही था। शूरता, वीरता, उदारता आदि गुणों में अवश्य वह महाराणा संग्रामसिंह से कम था पर इसके साथ ही स्थिति के अनुभव में, सहनशीलता और धैर्य में वह महाराणा से बढ़कर भी था। लगातार की पराजय और समागत दुःखों की लड़ी ने बाबर को धैर्यवान, स्थितिस्थापक और धूर्त बना दिया, भयंकर संकटों की घड़ी में पड़ कर उसकी विचार शक्ति तलवार की तरह तेज हो गई थी, और इसके कारण वह मानवीय हृदय और मनुष्य के मानसिक विचारों के परखने में निपुण हो गया था। पर इसके विरुद्ध महाराणा सांगा में, लगातार सफलता के मिलते रहने से और कठिनाइयों की बौछार न पड़ने से इन गुणों का समावेश न होने पाया। लगातार की विजय से उनके हृदय में आत्म-विश्वास उत्साह और आशावाद का संचार हो गया। जिससे [illegible]

रहस्य समझने में और लोगों के मनोभावों को परखने में कुछ कमजोर रह गये। और इन्हीं गुणों की कमी के कारण शायद उनकी यह इतिहास विख्यात् पराजय हुई।

सांगा महावीर और शूर नेता थे तो बाबर अधिक राजनीतिज्ञ, अधिक चतुर और कुशल सेनापति था। सांगा की ओर प्रतिष्ठा, वीरता, साहस और सेना की संख्या अधिक थी तो बाबर की ओर युद्ध नीति, चतुरता और धार्मिक उत्साह का आधिक्य था। मतलब यह कि भारत के तत्कालीन इतिहास में ये दोनों ही व्यक्ति महापुरुष थे।

खानवा का युद्ध

हम पहले ही लिख आए हैं कि, बाबर को जितना डर राणा सांगा का था उतना किसी का भी नहीं था। और इसलिए वह राणा को पराजित करने के लिए कई दिनों से तैय्यारी कर रहा था। अन्त में ११ फरवरी सन् १५२७ के दिन बाबर राणा सांगा से मुकाबिला करने के लिए आगरे से रवाना हुआ। कुछ दिनों तक वह शहर के बाहर ठहर कर अपनी फ़ौज और तोपखाने को ठीक करने लगा। उसने आलमखाँ को ग्वालियर एवं मकन, कासिमबेग, हमीद, और महमूद जैतून को "संबल" भेजा और वह स्वयं मेढापुर होता हुआ फ़तहपुर सीकरी पहुँचा। यहाँ आकर वह अपनी मोर्चे-बन्दी करने लगा।

इधर राणा सांगा भी बाबर का मुकाबिला करने के लिए चित्तौड़ पहुँचे। इब्राहीम लोदी के खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने की इच्छा से उसका भाई मुहम्मद लोदी भी राणा

की शरण में आ गया था । इसके अतिरिक्त और भी कई अफ-गान सरदारों से जो कि बाबर को हिन्दुस्थान से निकालना चाहते थे, राणा को सहायता मिली थी । राणा की फौज के रण-थम्भोर पहुँचने का समाचार जब बाबर को मिला तो वह बहुत डर गया । क्योंकि राणा के बल और विक्रम से वह पूर्ण परि-चित था । वह अपनी दिनचर्य्या में भी लिखता है कि, "सांगा बड़ा शक्तिशाली राजा था और जो बड़ा गौरव उसको प्राप्त था वह उसकी वीरता और तलवार के बल से ही था ।" [illegible] जब उसने सुना कि, राणा बढ़ते चले आ रहे हैं तो उसने तोमर राजा सिलहदी के द्वारा संधि का प्रस्ताव भेजा पर राणा ने उसे स्वीकार न किया और कन्दार के मजबूत किले पर अधिकार करते हुए वे बयाना की ओर आगे बढ़ने लगे । रास्ते में हसन-खाँ मेवाती नामक अफगान भी १०००० सवारों के साथ राणा की सेना में आ मिला । बाबर अपनी दिन-चर्य्या में लिखता है:—

"जब उसकी सेना में यह खबर पहुँची कि राणा अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ शीघ्रता से आ रहा है तो हमारे गुप्तचर न तो बयाने के किले में पहुँच सके, और न वहाँ की कुछ खबर ही ले पहुँचा सके । बयाने की सेना कुछ दूर तक [illegible] आई । शत्रु उस पर टूट पड़ा और वह भाग निकली । अब महाराणा ने बयाना पर अधिकार कर लिया ।" इसके बाद महाराणा की सेना और आगे बढ़ी और [illegible] तो उसने बाबर की आगे वाली सेना को [illegible] दिया । यह समाचार बाबर को मालूम हुआ [illegible]

ओर से पूरा निराश हो गया और आत्म-रक्षा के लिए मोर्चे-बन्दी करने लगा।

एर्सकिन साहब लिखते हैं कि मुग़लों के साथ राजपूतों की गहरी मुठभेड़ हुई जिसमें मुग़ल अच्छी तरह पिट गये। इस पराजय ने उन्हें अपने नये शत्रु की प्रतिष्ठा करना सिखाया। कुछ दिन पूर्व मुग़ल सेना की एक टुकड़ी असावधानी से क़िले से निकल कर बहुत दूर चली आई। उसे देखते ही राजपूत उस पर टूट पड़े और उसे वापस किले में भगा दिया, उन्होंने वापस जाकर अपनी सेना में राजपूतों के वीरत्व की बड़ी प्रशंसा की जिससे मुग़ल लोग और भी भयभीत हो गये। उत्साही, शूर, युद्ध और रक्तपात के प्रेमी राजपूत जातीय भाव से प्रेरित होकर अपने वीर नेता की अध्यक्षता में शत्रु के बड़े से बड़े योद्धा का सामना करने को तैय्यार थे और अपनी आत्म प्रतिष्ठा के लिए जीवन विसर्जन करने को प्रस्तुत रहते थे।

स्टेनली लेनपूल लिखते हैं कि, राजपूतों की शूर वीरता और प्रतिष्ठा के उच्च भाव उन्हें साहस और बलिदान के लिये इतना उत्तेजित करते थे जितना कि, बाबर के अर्द्ध सभ्य सिपाहियों के ध्यान में भी आना कठिन था।

बाबर की अग्र भाग के सेनापति मीर-अब्दुल अजीज ने सात आठ मील तक आगे बढ़ चौकियाँ कायम की थीं पर राजपूतों की सेना ने उन्हें भी नष्ट कर दिया।

इस तरह राजपूतों की निरन्तर सफलता, उनके उत्साह, उनकी आशातीत सफलता और उनकी सेना की विशालता-जो क़रीब सवा लाख होगी-को देख कर बाबर की सेना में समष्टि

रूप से निराशा का दौर दौरा हो गया । जिससे बाबर को फिर एक बार सुलह की बात छेड़ना पड़ी । और इस अवसर में उसने अपनी मोर्चेबन्दी को और भी मजबूत किया । इतने में काबुल से चला हुआ ५०० स्वयंसेवकों का एक दल उसकी सेना से आ मिला । पर बाबर की निराशा और बेचैनी बढ़ती ही गई । तब उसने अपने गत जीवन पर दृष्टि डालकर उन पापों को जानना चाहा जिनके फल स्वरूप उसे यह दुःख उठाना पड़ रहा था । अन्त में उसे प्रतीत होने लगा कि, उसने नित्य मदिरापान का स्वभाव डालकर अपने धर्म के एक मुख्य सिद्धांत को कुचल डाला है । उसने उसी समय इस संकट से बचने के लिए इस पाप कर्म को तिलांजली देने का विचार किया । उसने मदिरापान की क़सम ली और शराब पीने के सोने चान्दी के गिलासों और सुराहियों को उसने तुड़वा कर उनके टुकड़ों को गरीबों में बंटवा दिया । इसके अतिरिक्त मुसलमानी धर्म के अनुसार उसने डाढ़ी न मुण्डवाने की प्रतिज्ञा की ।

पर इन कामों से सब लोगों की निराशा घटने के बदले अधिकाधिक बढ़ती ही गई । वह अपनी दिनचर्या में लिखता है:—

"इस समय पहले की घटनाओं से क्या छोटे और क्या बड़े सभी भयभीत हो रहे थे । एक भी आदमी ऐसा नहीं था जो बहादुरी की बातें करके साहस [illegible] करता हो । वज़ीर, जिनका फ़र्ज़ ही नेक सलाह देने का था, और अमीर जो राज्य की सम्पत्ति को भोगते आ रहे थे कोई भी [illegible] न [illegible] था । और न उनकी सलाह ही इन अवसरों के योग्य थी । [illegible]

में अपनी फौज में साहस और वीरता का पूर्ण अभाव देख कर मैंने सब अमीरों और सर्दारों को बुला कर कहा—

"सर्दारो और सिपाहियो ! प्रत्येक मनुष्य जो इस संसार में आता है अवश्य मरता है। जब हम यहाँ से चले जायंगे तब एक निराकार ईश्वर ही बाकी रह जायगा। जो कोई जीवन का भोग करेगा उसे जरूर ही मौत का प्याला पीना पड़ेगा। जो इस दुनिया में मौत की सराय के अन्दर आकर ठहरता है, उसे एक दिन जरूर बिना भूले इस घर से विदा लेनी होगी। इसलिए अप्रतिष्ठा के साथ जीते रहने की अपेक्षा प्रतिष्ठा के साथ मरना कहीं उत्तम है।

...........\"परमात्मा हम पर प्रसन्न है उसने हमें ऐसी स्थिति में ला रक्खा है कि, यदि हम लड़ाई में मारे जाँय तो शहीद होंगे और यदि जीते रहे तो विजय प्राप्त करेंगे। इसलिए हमें सब को मिल कर एक स्वर से इस बात की शपथ लेना चाहिए कि देह में प्राण रहते कोई भी लड़ाई से मुंह न मोड़ेगा और न युद्ध अथवा मारकाट में पीठ दिखावेगा।"

इस भाषण से उत्साहित होकर करीब २०००० वीरों ने कुरान हाथ में ले ले कर कसम खाई। पर बाबर को इस पर भी विश्वास न हुआ और उसने सिलहिद्दी को सुलह का पैगाम लेकर फिर राणा के पास भेजा। बाबर ने इस शर्त पर राणा को कर देना स्वीकार किया कि वह दिल्ली और उसके अधीन प्रान्त का स्वामी बना रहे पर महाराणा ने इसको भी स्वीकार न किया। इससे सिलहिद्दी बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने भविष्य

में महाराणा के साथ किस प्रकार विश्वासघात कर इसका बदला लिया यह आगे जाकर मालूम होगा । अस्तु !

जब बाबर सन्धि से बिलकुल निराश हो गया तो अन्त में उसने जी छोड़ कर लड़ाई करना ही निश्चित किया । यदि इसी अवसर पर महाराणा सुस्ती न करके उस पर आक्रमण कर देते तो मुगलवंश कभी दिल्ली के सिंहासन पर प्रतिष्ठित न होता और आज भारत के इतिहास का रूप ही दूसरा नजर आता । पर जब दैव ही अनुकूल न हो तो सब का किया हो ही क्या सकता है । हाँ, भारत के भाग्य में गुलाम होना बदा था ।

बाबर ने सब प्रोग्राम निश्चित कर अपने पड़ाव को वहाँ से हटा कर दो मील आगे वाले मोर्चे पर जमाया । १६ मार्च को बाबर ने अपनी सेना और तोपखाने का इन्तिजाम किया और उसने चारों ओर घूम कर सब लोगों को दिलासा दे दे कर उत्तेजित किया । प्रातःकाल साढ़े नौ बजे युद्ध आरम्भ हुआ । राजपूतों ने बाबर की सेना के दाहिने और मध्य भाग पर ऐसे आक्रमण किये । जिसके प्रभाव से वे मैदान छोड़ कर भागने लगे । इस पर अलग रखी हुई सेना उनकी मदद के लिए भेजी गई । और राजपूतों के रिसालों पर तोपें चलना आरम्भ हुई । पर वीर राजपूत इससे भी विचलित न हुए । वे उसी [illegible] के साथ युद्ध करते रहे । इतने ही में [illegible] १५,००० सवारों को लेकर [illegible] मिला । पर इतना भी राजपूत सेना [illegible] न पड़ा, पर दुर्भाग्य [illegible] [illegible]

को ही बदल दिया। वह समय बहुत ही निकट आ चुका था कि, जब बाबर की फ़ौज भगने लगती, पर इसी बीच किसी मुग़ल सैनिक का चलाया हुआ तीर महाराणा के मस्तक पर इतने जोर से लगा कि, जिससे वे बेसुध हो गये। बस इस समय में महाराणा का बेसुध हो जाना ही हिन्दुस्थान के दुर्भाग्य का कारण हो गया। यद्यपि कुछ लोगों ने चतुराई के साथ उनके रिक्त स्थान पर सर्दार आज्जाजी को बिठा दिया, पर ज्यों ही राजपूत सेना में महाराणा के घायल होने का समाचार फैला त्यों ही वह निराश हो गई, और उसके पैर उखड़ने लगे। इधर अवसर देख कर मुगलों ने जोर शोर से आक्रमण कर दिया, फल वही हुआ जो भारत के भाग्य में लिखा था। राजपूत सेना भाग निकली और सभी प्रसिद्ध २ सर्दार मारे गये।

राजपूतों की इस हार पर गम्भीरतापूर्वक मनन करने से यही फल निकलता है कि, उनकी इस पराजय का कारण उनकी वीरता की कमी न थी। परंतु इसका कारण हमारी सैनिक—कायदों की वह कमजोरी थी जिसने कई बार हमको पहले भी धोखा दिया। इसी सैनिक पद्धति से सिंध के राजा दाहिर की जो किसी भी प्रकार मुहम्मद कासिम से कम न था, पराजय हुई, इसी पद्धति के कारण पंजाब के शक्तिशाली राजा आनन्दपाल के भाग्य का निपटारा हुआ। आनन्दपाल भी महम्मूद गज़नवी से किसी प्रकार कम न थे, पर सन् १००८ के पेशावर वाले युद्ध में उनका हाथी बेकाबू होकर भाग गया, और इसी के कारण उनकी पराजय हुई। और इसी नाशकारी पद्धति के कारण

प्रसिद्ध राणा संग्रामसिंह की भी यह पराजय भारत को देखना पड़ी।

यवनिका पतन

मूर्च्छित महाराणा को लेजाने वाले लोग जब "बसवा" नामक ग्राम में पहुँचे तब महाराणा को चेत हुआ। उन्होंने जब सब लोगों से अपने इस प्रकार लाये जाने की बात सुनी तो उन्हें बड़ा क्रोध और खेद हुआ, और उसी समय उन्होंने प्रतिज्ञा की कि बिना बाबर को पराजित किये जीते जी चित्तौड़ न जाऊँगा। इसके पश्चात् स्वस्थ होने के निमित्त कुछ समय तक महाराणा रणथम्भौर में रहे। इस स्थान पर टोडरमल चांदणा नामक एक व्यक्ति ने एक ओजपूर्ण कविता सुना कर महाराणा को प्रोत्साहित किया। जिससे वे फिर युद्ध के लिए तैयार हो गये। उन्हें युद्ध के लिये इस प्रकार प्रस्तुत देख उनके विश्वास-घातक मंत्रियों ने—जो कि, अब युद्ध करना न चाहते थे—उन्हें विष दे दिया। जिसके कारण संवत् १५८४ के वैशाख में उनका देहान्त हो गया। मृत्यु समय उनकी देह पर करीब ८० घाव थे। राणा संग्रामसिंह के नाश के साथ भारत के राजनैतिक रंगमंच पर हिंदू साम्राज्य का अन्तिम दृश्य भी पूर्ण हो गया। यहीं से हिंदू साम्राज्य के भाग्य का [illegible] हो गया। [illegible]

द्रोहियों के चरित्र पर विशेष आलोचना करते हुए हमारी लेखनी कांपती है। हिंदू साम्राज्य के इस दुःखान्त नाटक की यवनिका पतन के साथ साथ वह भी विश्राम लेती है।



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१२	क्षत्र-शक्ति	क्षत्रप-शक्ति
११२	६	चला था	चले थे ।
११५	६	कौटिल्य	कौटिल्य के
११६	५	वालों	वाले सेल्यूकस
११८	१०	पढ़ा ।	पढ़ा कि
७ १२५	१९	६२	१३७
१२६	११	फिर	फिर भी
१२७	१२	और	सच्चे
१२७	१४	लोगोंके	लोगोंके फन्दे में
१२९	११	महाया	महायान
१३५	९	यूणहिचि	यूएहिचि
१३५	१८	यह	यह
१३७	७	धर्म के	बौद्ध धर्म के
१३७	७	बौद्ध मे	×
१३९	१६	सेप	सोन
१४४	२१	[illegible]	[illegible]
१४५	११	[illegible]	[illegible]
१५८	२४	गई	दूसरे
१६१	८	[illegible]	[illegible]
१६६	१	[illegible]	[illegible]
१६६	२	[illegible]	[illegible]
१६७	१८	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	और
[illegible]	१	[illegible]	[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	८	यूरोप में	यूरोप
१७५	१२	गांवगांव	गांवके गांव
१९०	५	[illegible]	[illegible]
१९०	१५	कारागार	कारागार मे
१९१	१६	[illegible]	[illegible]
१९२	८	[illegible]	[illegible]
१९३	१६	और	×
१९४	१७	कागार	कारागार
१९७	३	यवन हैं	यवन
१९९	६	[illegible]	[illegible]
२०२	१८	मे	[illegible]
२०२	२२	[illegible]	[illegible]
२१०	२०	[illegible]	[illegible]
२१२	१	[illegible]	[illegible]
२१४	१६	[illegible]	[illegible]
२१४	१०	[illegible]	[illegible]
२१५	११	[illegible]	[illegible]
२१६	३	[illegible]	[illegible]
२१६	१४	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

शुद्धिपत्र

प्रमादवश इस ग्रन्थ में बहुत सी अशुद्धियां रह गई हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि हमारी इस भूल को क्षमा करते हुए वे उन्हें सुधार कर पढ़ें। पुस्तक पढ़ने के पहले वे इस शुद्धिपत्र के अनुसार अवश्य उसे शुद्ध करालें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	५	पर्य्यपेक्षण	पर्य्यवेक्षण
२०	९	प्रमाण	इस प्रमाण
२०	९	अष्ट	अष्टद्विज
२०	१५	पुण्यपुत्र	पुण्यमित्र
२१	१२	अलकधा	अलकप्पा
२१	१६	मलभों	मल्लों
२२	८	निर्विवाद	प्रायः निर्विवाद
२४	५	उसके	उसका
२६	२१	प्रचलित	प्राचीन
२७	१९	पहलो	पहली ही
२८	६	एकदफा	एकछत्री
२८	९	वीरों	वीर
२९	५	लकड़ी का	लकड़ी के
२९	१४	सरोवर	सरोवर, सरोवर
३०	१३	वहां	यहां
३५	५	पुण्यगुस	पुण्य गुस
३६	१०	समाहर्त्रा	समाहर्त्ता
३६	११	”	”
३६	१७	”	”
३७	१५	किले	किले की
४०	२४	चूरा	चूहा
४२	९	सभी	सत्री
४४	३	आंटा	आटा
४६	१०	समाहती	समाहर्त्ता
४६	१८	सभी	सत्री
४६	२२	रूप	रूपों
४७	२२	शुचु	शत्रु
७३	३	विजयी	विजय
७४	२२	और	पर
७९	११	निर्विवाद	प्रायः
८१	५	मकद्दनिया	मकदूनिया
८६	१०	श्रावरती	श्रावस्ती
९५	४	प्रकार	प्रकार के
९६	२	जहां	जब
९६	७	यज्ञ में	हमें
९७	१५	धम	धर्म
९९	१३	और	×
१०८	११	धर्म कार्य्य	धर्म कार्य्य
११०	२२	उन	उन दो
१११	६	कभी	कभी वह

(१८) धर्म और जातीयता—(लेखक महर्षि अरविन्द घोष) इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। मू० ॥)

(१९) तरुण भारत—(लेखक लाला लाजपत राय) पुस्तक क्या है देश की सच्ची रामायण है। मू० १)

(२०) लक्ष्मी चरित्र—(६ चित्रों सहित) स्त्रियोपयोगी अनूठी पुस्तक—पातिव्रत धर्म का पूर्ण आदर्श मू० १)

(२१) सूर्य्यग्रहण—शिवाजीके समय का वीर रस पूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास—अनुवादक रामचन्द्र वर्मा मू० २॥)

(२२) कलंकिनी—स्त्रियोपयोगी सामाजिक उपन्यास ॥=)

(२३) गृहिणीभूषण—स्त्रियोपयोगी शिक्षाप्रद पुस्तक ॥)

(२४) म० ईसा नाटक—(ले० पं० बेचन शर्मा उग्र) इस मौलिक आध्यात्मिक नाटक की सारे हिन्दी संसार में [illegible] है। मू० ॥=) सजिल्द १=)

(२५) भारत के हिन्दू सम्राट्—यह पुस्तक आपके हाथ ही में है।

(११) नवयुवको ! स्वाधीन बनो—इसमें अंग्रेज़ों के अत्याचारों को न सहने वाले और ७५ दिन तक जेल में उपवास कर मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये प्राण त्यागने वाले आयरिश वीर टेरेन्स मेक्सविनी का संक्षिप्त जीवन तथा लो० तिलक म० गांधी, ला० लाजपतराय, आदि देश नेताओं के स्वाधीनता के भावों से भरे हुए उपदेश हैं। सचित्र मू० ॥) यह पुस्तक प्रत्येक नवयुवक के हाथ में होनी चाहिये।

(१२) स्वतंत्रता की झनकार—यदि आप राष्ट्रीय कवियों की चुनी हुई स्वतंत्रता से भरी हुई कविताओं को पढ़ना चाहते हैं तो इसे तुरन्त मंगाइये। सचित्र मू० ॥)

(१३) भारतदर्शन—(भू० लेखक लाला लाजपतराय) भूमिका में लालाजी लिखते हैं "इस पुस्तक से मनुष्यों को यह प्रतीत हो जायगा कि इस देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था के क्या कारण हुए, किस तरह विदेशियोंने हमारे उद्योग धन्धों को नष्ट किया और क्यों हम इस समय तक दुरुस्त नहीं कर सके। मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक इस समय हमारे लिये बहुत कुछ सहायता देगी" मूल्य २॥) लालाजी लिखते हैं—

"मैं बड़े उत्साह से इस किताब की सिफारिश करता हूँ"

(१४) देशबन्धु सी० आर० दास की जीवनी—(ले० बाबू सम्पूर्णानंद बी० एस० सी०) इसमें कोई बात छूटने नहीं पाई है।

(१५) अकालियों का आदर्श,सत्याग्रह और उनकी विजय—(लेखक बाबू सम्पूर्णानंद बी० एस० सी०। कौन भारतवासी होगा जो अकाली वीरों के सत्याग्रह का इतिहास पढ़ कर खिल न उठेगा। इस ग्रन्थ को प्रत्येक भारतवासी को पढ़ना चाहिये। मू० ॥)

(१६) खादी का इतिहास—इसमें वैदिक काल से लेकर आज तक का खादी का सप्रमाण इतिहास है। मू० ॥=)

(१७) विवाह कुसुम—यह अत्यन्त शिक्षाप्रद सेवा भावों से परिपूर्ण सामाजिक उपन्यास है। कई चित्र भी हैं। मू० १॥)

[illegible]) प्रेसिडेंट विलसन और संसार की स्वाधीनता मू०॥=)

[illegible]) नागपुर की कांग्रेस (दो चित्रों सहित) मू० ॥)

[illegible]) चित्रांगदा—रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखित । इस नाटक में महा प्रतापी अर्जुन और चित्राङ्गदा का पवित्र और स्वाभाविक प्रेम का बहुत ही उत्तम ढंग से वर्णन किया गया है मू० ।=)

(७) तिलक दर्शन (भू० ले० श्रीमान पं० मदनमोहन मालवीय जी । इसमें लोकमान्य का स्फूर्तिकर चरित्र और उनके महत्वपूर्ण लेखों और व्याख्यानों का संग्रह है । ११ चित्रों सहित मूल्य २॥)

(८) असहयोग-दर्शन—अर्थात् जीवन में नई जागृति पैदा करने वाले म० गांधी के मुक्ति मन्त्रों का, उनके चुने हुए और असहयोग के मर्म बताने वाले लेखों और व्याख्यानों का अपूर्व संग्रह । इसकी भूमिका श्रीमान् पं० मोतीलालजी नेहरू ने लिखी है इसीसे आप समझ सकते हैं कि यह कितना अपूर्व ग्रन्थ है मूल्य १)

(९) बोल्शेविज़्म—इसकी भूमिका हिन्दी संसार में प्रसिद्ध बाबू भगवानदास जी गुप्त ने लिखी है । भूमिका में वे लिखते हैं "इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा और देखकर प्रसन्न हुआ ।" इसमें बोल्शेविज़्म के आचार्य लेनिन के निर्भीक सिद्धान्तों का वर्णन, वर्तमान समय में वहाँ की राज्य-व्यवस्था, [illegible] व्यवस्था का [illegible] वर्णन है । शुरू में वहाँ की राज्यक्रान्ति का इतिहास, [illegible] में [illegible] के हाथ में राज्य का आना, [illegible] की नीति और [illegible] आदि अनेक जानने योग्य बातों का वर्णन है मूल्य १॥=)

(१०) हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय [illegible]—([illegible]) इसमें भारत का [illegible] [illegible] किया गया है । इसके [illegible] [illegible] गांधी जी के चुने हुए [illegible] और [illegible] [illegible] मूल्य [illegible]

पहिले इसे अन्ततक ज़रूर पढ़ लीजिये।

राष्ट्रीय साहित्य ही देश में नया जीवन पैदा करता है। खेद है हिन्दी में इस समय इसकी बड़ी कमी है। इसी कमी की पूर्ति के लिये हमने हिन्दी साहित्य मन्दिर ग्रन्थमाला नाम की यह माला निकालना शुरू किया है। अब देशवासियों से यह प्रार्थना है कि वे इस कार्य्य में हमारा उत्साह बढ़ावें और 'एक एक बूंद से घड़ा भर जाता है' उसी प्रकार कम से कम इस माला के स्थाई ग्राहक होकर और अपने मित्रों को बनाकर हमारी सहायता करें। स्थाई ग्राहक होने के लिये केवल एक दफा आपको आठ आने देने पड़ेंगे।

स्थाई ग्राहक होने से अपूर्व लाभ।

(१) ग्रन्थमाला से प्रकाशित सब ग्रन्थ पौनी कीमत में मिलेंगे। (२) प्रकाशित या प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में से आप जो चाहें लें, न पसन्द हो, न लें कोई बन्धन नहीं। (३) हमारे यहाँ दूसरे स्थानों की हिन्दी की प्रायः सभी उत्तम पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से आप जो पुस्तकें हमारे यहाँ से मंगावेंगे, प्रायः उन सब पर एक आना रुपया कमीशन दिया जावेगा। (४) हमारे यहाँ जो पुस्तकें नई आवेंगी, उनकी सूचना बिना पोस्टेज लिये ही घर बैठे आपको देते रहेंगे।

क्या अब भी आप स्थाई ग्राहक न बनेंगे।

ग्रन्थ माला में अब तक ये ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

(१) दिव्यजीवन—यह पुस्तक जीवन में नई जागृति पैदा करने वाले उत्साह बर्द्धक विचारों से परिपूर्ण है। मूल्य ।।।)

(२) सर जगदीशचंद्र बोस और उनके आविष्कार मू० ।=)

(३) शिवाजी की योग्यता—इसमें शिवाजी की अद्भुत वीरता अपूर्व सेना संचालन और उत्तम राज्य व्यवस्था का वर्णन बहुत ही उत्तम ढंग से किया है। दूसरी बार बढ़िया कागज़ पर सचित्र छपी है मू० ।।।)

५३

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

हिन्दी संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से यह मंडल स्थापित हुआ है। विविध विषयों पर सर्व साधारण और शिक्षित समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मंडल के द्वारा प्रकाशित होंगी। मूल्य लगभग लागतमात्र रहेगा अर्थात् १) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक की पुस्तकें दी जावेंगी। वर्ष भर में कम से कम १६०० पृष्ठ तक की पुस्तकें तीन रुपयों में दी जावेंगी। यह मूल्य स्थाई ग्राहकों के लिए है। स्थाई ग्राहक बनने के दो नियम हैं।

(१) जो सज्जन ॥) प्रवेश फीस भेजेंगे उनका नाम सदा के लिए स्थाई ग्राहकों में लिख लिया जायगा और पुस्तक प्रकाशित होते ही लागत मूल्य से वी. पी. से भेज दी जावेगी।

नोट—प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से मंगाने में ग्राहकों को पोस्टेज के अलावा ।) प्रति पुस्तक वी. पी. खर्च का व्यर्थ ही अधिक लगेगा। इस तरह वर्ष के अंत में पहले नम्बर के ग्राहकों को एक वर्ष में लगभग २) रुपया पोस्टेज का अधिक लग जायगा।

(२) प्रत्येक पुस्तक वी. पी. से भेजने में स्थाई ग्राहकों को पोस्टेज का बहुत खर्चा पड़ जाता है। इसलिये ३) सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकों का मूल्य और १) पोस्टेज कुल ४) भेजकर भी वार्षिक ग्राहक बन सकते हैं। वार्षिक ग्राहकों से ॥) प्रवेश फीस के भी नहीं लिये जाते।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें।

माला में अबतक यह पुस्तकें निकली हैं।

(१) **दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह**—(लेखक महात्मा गांधी) पृष्ठ लगभग ३०० मूल्य स्थाई ग्राहकों से ।≡) सर्व साधारण से ॥।) (२) **दिव्य जीवन**—पृष्ठ १३६ मूल्य स० ग्राहकों से ।)॥ सर्वसाधारण से ।=)॥ (३) **शिवाजी की योग्यता**—पृष्ठ १२८ मूल्य स्थाई ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) (४) **भारत के स्त्री-रत्न**—पृष्ठ ४०० मूल्य स्थाई ग्राहकों से ॥।) सर्वसाधारण से १=) इसके अतिरिक्त कई पुस्तकें छप रही हैं।

पता—सस्ता-साहित्य प्रकाशक मंडल, अजमेर।